रामकृष्ण मिशन शताब्दी विशेषांक
हिन्दी त्रैमासिक
विवेक-ज्योति
वर्ष ३५ अंक २

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

रामकृष्ण मिशन शताब्दी विशेषांक

अप्रैल-मई-जून : १९९७

प्रबन्ध सम्पादक तथा व्यवस्थापक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वार्षिक २०/- | वर्ष ३५ अंक २ | एक प्रति ६/-

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए) ३००/-

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर - ४९२ ००१ (म.प्र.)

दूरभाष : २२५२६९, ५४४९५९, २२४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा.लि., बजरंगनगर, रायपुर, फोन : ५४६६०३

कम्पोजिंग : अल्फा लेज़र स्पॉट, गीतानगर, रायपुर, फोन : २२३५७७

स्वामी विवेकानन्द और रामकृष्ण मिशन

(सम्पादकीय)

१८९५ तथा ९६ ई. में जब स्वामीजी ने इंग्लैण्ड का दौरा किया, तो उनकी लोकप्रियता से आकृष्ट होकर वहाँ के कई पत्र-पत्रिकाओं ने उनसे साक्षात्कार लिए थे। संवाददाताओं से बातें करते हुए उस समय स्वामीजी ने जो कुछ कहा था, उनसे लगता है कि उस समय तक रामकृष्ण मिशन जैसी संस्था बनाने की योजना उनके मन में नहीं थी।

२३ अक्तूबर, १८९५ के 'वेस्टमिनिस्टर गजट' में प्रकाशित साक्षात्कार में उनसे पूछा गया था, "तो, कोई समाज आदि स्थापित करने का आपका विचार नहीं है?" उत्तर में स्वामीजी ने कहा, "नहीं, कोई समिति या समाज नहीं। मैं तो केवल उस आत्मा का उपदेश करता हूँ, जो सब प्राणियों के हृदय में गूढ़ भाव से विद्यमान है और सबमें व्याप्त है।"

अगले वर्ष उन्होंने 'संडे टाइम्स' के प्रतिनिधि को बताया,"संगठनों की संख्या बढ़ाना हमारे सिद्धान्तों के विपरीत है; क्योंकि हर प्रकार से उनकी संख्या पहले ही काफी है। और जब संगठन बनाये जाते हैं, तो उनकी देखरेख के लिये व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। और जिन लोगों ने संन्यास ले लिया है अर्थात सभी सांसारिक पद, सम्पदा तथा ख्याति का त्याग कर दिया है और जिनका उद्देश्य

आध्यात्मिक ज्ञान की खोज है, इस काम को नहीं सँभाल सकते।"

फिर उन्होंने 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' की ब्रिटिश कमेटी के मुखपत्र 'इण्डिया' को साक्षात्कार देते हुए 'संगठन' न बनाने का कारण बताते हुए कहा था, "वह मेरे कार्य का भाग नहीं है। सब प्रकार से इनकी संख्या पहले से ही काफी है। संगठनों के प्रबन्ध के लिए मनुष्यों की आवश्यकता होती है; वे शक्ति, धन और प्रभाव प्राप्त करना चाहते हैं।।"[१]

संगठन की शक्ति का बोध

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामीजी के मन में मिशन जैसी कोई संस्था बनाने की कोई सुनिश्चित योजना नहीं थी, बल्कि संगठित रूप से कार्य करने में उनकी अरुचि ही अधिक दिखाई देती है। परन्तु अमेरिका में घटी एक रोचक घटना ने उनके दृष्टिकोण में आमूल-चूल परिवर्तन ला दिया। वहाँ की कार्यप्रणाली का निरीक्षण करते हुए एक दिन सहसा स्वामीजी को बोध हुआ कि संगठन के अनेक दोषों के बावजूद **'संघे शक्तिः कलौयुगे'** — वर्तमान युग में बिना संगठन बनाये विराट स्तर पर कोई कार्य सम्पन्न नहीं किया जा सकता। इस घटना का वर्णन करते हुए कुमारी कार्नेलिया कोंगर ने अपने संस्मरणों में लिखा है, "एक दिन स्वामीजी ने मेरी नानी को बताया कि वे अपने अमेरिकी जीवन के एक सबसे बड़े प्रलोभन में पड़ गये हैं। नानी ने उन्हें थोड़ा चिढ़ाने की दृष्टि से कहा, 'वह लड़की कौन है, स्वामीजी?' इस पर ठठाकर हँसते हुए वे बोले, 'लड़की नहीं, वह है संगठन।' फिर समझाते हुए उन्होंने बताया कि श्रीरामकृष्ण के शिष्यगण एकाकी ही भ्रमण किया करते हैं और किसी गाँव में पहुँचने पर वहीं एक वृक्ष के नीचे आसन बिछाकर बैठे, उपदेश देने को किसी जिज्ञासु के आने की बाट जोहते हैं। परन्तु अमेरिका में आकर वे समझ गये हैं कि संघवद्ध होकर कार्य करने से वह कितना फलदायी हो सकता है। तो भी उनके मन में खटका था कि भारतवासियों के लिए किस प्रकार का संगठन ग्रहणीय होगा। इस विषय पर उन्होंने काफी अध्ययन तथा चिन्तन किया था कि पाश्चात्य जगत में उन्हें जो कुछ अच्छा लग रहा था, उसे किस प्रकार उनके अपने देश की जनता के लाभ हेतु अपनाया जा सकेगा। मैं देखती हूँ कि बेलुड़ मठ तथा उसके विविध जनहितकर कार्य उनके इसी काल के जीवन का परिणाम है।"[२]

---

१. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ४. पृ. २२६, २३१ तथा २३८

२. Reminiscences of Swami Vivekananda, 1961, p. 138

मिशन की स्थापना

लगभग साढ़े तीन वर्ष पाश्चात्य देशों में सहज भाव से सनातन हिन्दू भावों का अथक प्रचार करने के बाद १८९७ ई. के प्रारम्भ में स्वामीजी भारत लौटे। उन्हें लग रहा था कि इस जगत में उनके अवतरण का मूलभूत उद्देश्य — श्रीरामकृष्ण के सन्देश की विश्ववासियों के समक्ष घोषणा करना — पूरा हो चुका है। तथापि इस सन्देश को मानवता के रग-रग में आत्मसात् होने में कई शताब्दियाँ लगनेवाली थीं, अतः उनके जीवन का एक अन्य भी महत्वपूर्ण कार्य बच रहा था और वह था — अपने कार्य को स्थायित्व प्रदान करना और साथ ही सुसम्बद्ध रूप से चलाने की व्यवस्था कर जाना, ताकि उनकी अनुपस्थिति में भी वह सुचारु रूप से चलता रहे और भावी पीढ़ियों के लिए थाती के रूप में सुरक्षित रहे। फिर वे अपने कार्य में श्रीरामकृष्ण के गृही भक्तों को भी सक्रिय रूप से जोड़ना चाहते थे।

इन्हीं उद्देश्यों को ध्यान में रखकर स्वामीजी ने एक सेवा-समिति के गठन करने का निश्चय किया और भारत लौटने के कुछ माह बाद ही, इसी निमित्त १ मई के अपराह्न में तीन बजे भावधारा से जुड़े समस्त साधु तथा गृही भक्तों की एक सभा बुलाई। कलकत्ते के ५७, रमाकान्त बोस स्ट्रीट पर स्थित बलराम बोस के भवन में आहूत इस सभा को सम्बोधित करते हुए बोले, "विभिन्न देशों का भ्रमण करने के बाद मेरी ऐसी धारणा बनी है कि संगठन के बिना कोई बड़ा कार्य साधित नहीं किया जा सकता। ऐसा नहीं लगता कि हमारे जैसे देश में प्रारम्भ से ही लोकतांत्रिक आधार पर संघ बनाना या (मतदान के द्वारा) बहुमत लेकर कार्य करना विशेष सुविधाजनक हो सकेगा। उन (पश्चिमी) देशों के नर-नारी अधिकांशतः शिक्षित हैं और हम लोगों के समान द्वेषपरायण नहीं हैं। उन्होंने गुणों का सम्मान करना सीख लिया है। यही देखिए न, मैं एक नगण्य-सा आदमी हूँ, तो भी उन लोगों ने मेरा कितना आदर-सत्कार किया! इस देश में भी जब शिक्षा के प्रसार के साथ साथ जनता और भी सहृदय हो जायेगी, जब अपने मत आदि के बाहर भी अपने विचारों का विस्तार करना सीखेगी, तब लोकतांत्रिक पद्धति से संघ को चलाया जा सकेगा। इसी कारण इस संघ के लिए एक डिक्टेटर या प्रधान संचालक होना चाहिए। सबको उसी का आदेश मानकर चलना होगा। ...

"हम लोग जिनके नाम पर संन्यासी हुए हैं, आप लोग जिन्हें अपने जीवन का आदर्श बनाकर गृहस्थाश्रम रूपी कर्मक्षेत्र में स्थित हैं और अपनी महासमाधि के

बारह वर्षों के भीतर ही प्राच्य तथा पाश्चात्य जगत में जिनके पवित्र नाम तथा अद्भुत जीवन का आश्चर्यजनक रूप से प्रसार हुआ है, यह संघ उन्हीं (श्रीरामकृष्ण) के नाम से पर स्थापित होगा। हम सब प्रभु के दास हैं, आप लोग (उनके) इस कार्य में सहायक हों।''

सभा में उपस्थित गिरीशचन्द्र घोष आदि सभी भक्तों ने उत्साहपूर्वक 'रामकृष्ण संघ' की स्थापना के इस प्रस्ताव का अनुमोदन किया। स्वयं स्वामीजी ही संघ के प्रधान अध्यक्ष बनाये गये और स्वामी ब्रह्मानन्द तथा योगानन्द क्रम से कलकत्ता केन्द्र के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष नियुक्त हुए। एटार्नी बाबू नरेन्द्रनाथ मित्र को सचिव और डॉक्टर शशिभूषण घोष तथा शरच्चन्द्र सरकार को उपसचिव बनाया गया। शरच्चन्द्र चक्रवर्ती महाशय को शास्त्रपाठक का उत्तरदायित्व सौंपा गया।

इसके उपरान्त ५ मई के दिन बुलाई गयी दूसरी बैठक में संघ की कार्यप्रणाली आदि पर सविस्तार चर्चा हुई। और अन्ततः निश्चित हुआ कि संघ का नाम 'रामकृष्ण मिशन एसोसिएशन' (रामकृष्ण प्रचार समिति) होगा और उसकी कार्यप्रणाली आदि का भी निर्धारण हुआ, जो इस प्रकार है —

१. उद्देश्य — मानवमात्र के कल्याणार्थ श्रीरामकृष्ण ने जिन सारे तत्त्वों की व्याख्या की और उनके जीवन द्वारा व्यवहार में जो कुछ प्रतिपादित हुआ है, उसका प्रचार और वे समस्त उपाय जो मनुष्य के शारीरिक, मानसिक तथा पारमार्थिक उन्नति में सहायक हो सकें, उनमें सहायता करना ही इस संघ (मिशन) का उद्देश्य होगा।

२. व्रत — विश्व के सभी धर्ममतों को एक अक्षय सनातन धर्म के ही विभिन्न रूप जानकर सभी धर्मावलम्बियों के बीच भ्रातृभाव स्थापित करने के लिए श्रीरामकृष्ण ने जिस कार्य को प्रारम्भ किया था, उसी को चलाना इस संघ का व्रत होगा।

३. कार्यप्रणाली — मानवमात्र की सांसारिक तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिए विद्यादान में उपयुक्त लोगों को शिक्षित करना, शिल्पियों तथा श्रमजीवियों को प्रोत्साहित करना और श्रीरामकृष्ण के जीवन द्वारा व्याख्यात वेदान्त तथा अन्य तत्त्वों का जनसमाज में प्रचार करना।

४. भारतीय कार्य — भारतवर्ष के प्रत्येक नगर में आचार्य-व्रत ग्रहण करने के इच्छुक गृहस्थ तथा संन्यासियों के प्रशिक्षण हेतु आश्रमों की स्थापना करना और ऐसे उपाय करना जिससे वे दूर दूर तक जाकर जनता को शिक्षित कर सकें।

५. **विदेशों में कार्य** — भारतेत्तर देशों में व्रतधारियों को भेजना और उन देशों में स्थापित आश्रमों तथाभारतीय आश्रमों के बीच घनिष्ठता तथा सहानुभूति बढ़ाना और साथ ही नये नये आश्रमों की भी स्थापना करना।

इसके अतिरिक्त दो अन्य नियम भी बने थे —

६. मिशन का लक्ष्य चूँकि आध्यात्मिक तथा सेवामूलक है, अतः राजनीति के साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा।

७. उपरोक्त उद्देश्यों के साथ जिन लोगों की सहानुभूति है अथवा जिनका विश्वास है कि श्रीरामकृष्ण जगत में किसी विशेष कार्य हेतु अवतीर्ण हुए थे, वे इस संघ के सदस्य हो सकेंगे।

इसके साथ ही यह नियम भी बनाया गया था कि प्रति रविवार को अपराह्न में चार बजे बलराम बाबू के घर पर ही समिति की साप्ताहिक बैठकें हुआ करेंगी। ये बैठकें तीन वर्ष तक नियमित रूप से चली थीं और स्वामीजी स्वयं भी उनमें यथासम्भव उपस्थित रहकर कभी व्याख्यान देते और कभी भजन गाकर सदस्यों को प्रेरित किया करते। (इन साप्ताहिक बैठकों के संक्षिप्त विवरण एक अलग लेखमाला के रूप में इसी अंक से प्रकाशित किया जा रहा है।) बाद में गंगा के पार बेलुड़ मठ की स्थापना हो जाने के बाद ये बैठकें धीरे धीरे बन्द हो गयीं, परन्तु इसके अन्तर्गत जो सेवाकार्य आरम्भ किये गये थे, वे अबाध रूप से चलते रहे।

रामकृष्ण मठ की सहयोगी संस्था के रूप में स्वामीजी ने इस नवीन 'मिशन' के माध्यम से विविध प्रकार के सेवा कार्यों का श्रीगणेश किया। और उनके इस ऐतिहासिक कदम का देश भर में स्वागत हुआ, परन्तु ऐसे लोगों की भी कमी न थी, जो इसे द्वेष तथा संशय भरी दृष्टि से देखते थे। हिन्दी की एक समकालीन द्विमासिक पत्रिका 'निगमागम चन्द्रिका' ने अपने चौथे वर्ष के पाँचवें (नवम्बर, १९०० ई.?) अंक के सम्पादकीय में इस विषय पर बड़े ही सारगर्भित विचार व्यक्त किये थे। पत्रिका ने अपनी उस काल की साहित्यिक भाषा में लिखा — "कोई कोई सनातनधर्म्मप्रेमी सहयोगी श्रीस्वामी विवेकानन्द द्वारा स्थापित 'श्रीरामकृष्ण मिशन' के उद्देश्यों वा श्रीस्वामीजी के आचारों की निन्दा करके उनके पुरुषार्थ के विरोधी प्रतीत हुआ करते हैं। एवं ऐसा कहते हैं कि उनके आचार व उनके मिशन की नीति सनातन धर्म्म के सदाचारों से कहीं विरुद्ध प्रतीत होती है। परन्तु गुणग्राही पुरुषों को गुण का अनुसन्धान करना ही उचित है। श्रीस्वामीजी वा उनके सम्प्रदाय

के अन्यान्य साधुगणों की गुरुभक्ति, उनका स्वार्थत्याग, विषय वैराग्य, और स्वदेशानुराग, श्रीस्वामीजी का दुर्द्दमनीय पुरुषार्थ और विद्याभिमानी परम स्वच्छन्द पाश्चिमात्य जातियों पर सनातनधर्म्म का प्रभुत्व स्थापित करना, एवं जो जातियां पहिले मिश्नरी पादरीगणों के सिखाने से भारतवासियों को असभ्य अर्द्धपशु करके समझा करती थीं उन पर अपना गुरुत्व स्थापन करके उनका धन धर्म्मप्रचारार्थ भारतवर्ष में मँगवाना इत्यादि गुण साधारण नहीं है। यदि सनातनधर्म्म के धर्म्मशास्त्रोक्त वहिराचारों के विषय में विचार किया जाय एवं उसके साथ ही साथ आजकल के नाना सम्प्रदाय वा पन्थों पर दृष्टि डाली जाय तो यह मानना ही पड़ेगा कि आज दिन आर्य्यप्रजा के अन्तर्गत बहुत से नवीन सम्प्रदाय वा पन्थ हैं कि जो स्थूल बर्ताव द्वारा सनातनधर्म्म के बहुधा विरुद्ध प्रतीत होते हैं। परन्तु उन नवीन सम्प्रदाय वा पन्थों द्वारा आजकल अपनी जाति व धर्म्म को विशेष लाभ न पहुँचने पर भी एवं उनमें इस प्रकार के गुण न रहने पर भी जब हम उन सबों को अपना अंग करके मानते हैं तो 'श्रीरामकृष्ण पंथ' को अपना करके क्यों न मान लेवें? बहुधा विद्वानूजनगणों का यही अनुमान है कि 'श्रीरामकृष्ण मिशन' द्वारा कई प्रकार का लाभ भारतवर्ष को पहुंचने की आशा है।"

शंकाएँ और समाधान

धर्म तथा आध्यात्मिक ज्ञान चिरकाल से ही गुरु-परम्परा से चलता आया है। औपनिषदिक काल से ही लेकर भगवान बुद्ध, शंकराचार्य, चैतन्यदेव आदि सभी धर्माचार्यों ने अपने भावों के रक्षण, पोषण तथा प्रचार के लिए संन्यासी-संघों की स्थापना की थी। यह सनातन भारतीय परम्परा में था, परन्तु भारत के पुनरुत्थान के प्रत्यक्ष उद्देश्य से सेवामूलक 'मिशन' की स्थापना एक बिल्कुल ही नयी बात थी। अतः इस विषय में तत्काल तथा भविष्य में उठनेवाली कुछ शंकाओं का निवारण करना स्वामीजी के लिए आवश्यक था और उनके अपने कुछ गुरुभाइयों के माध्यम से ही यह कार्य सम्पन्न हुआ। मानो परम्परागत हिन्दू धर्म तथा वर्तमान पीढ़ी के प्रतिनिधियों के रूप में ही उन लोगों के मुख से कुछ शंकाएँ निःस्रित हुईं और स्वामीजी ने उन्हीं को निमित्त बनाकर भावी जगत के लिए उनका समाधान दे दिया। ऐसी ही कुछ घटनाएँ यहाँ प्रस्तुत हैं —

समिति की स्थापना के वाले दिन ही आगन्तुकों के विदा हो जाने के बाद स्वामीजी कह रहे थे, "इस प्रकार कार्य तो आरम्भ हुआ, अब देखो ठाकुर की

इच्छा से यह कहाँ तक सफल होता है।" श्रीरामकृष्ण अपने पास आनेवाले भक्तों को प्रायः नारदीय भक्ति तथा एकान्त में जप, ध्यान, प्रार्थना आदि के ही उपदेश दिया करते थे। यहाँ तक कि परोपकार की प्रवृत्ति को भी वे साधना में बाधक बताते थे। अन्य गुरुभाइयों ने अधिकांशतः श्रीरामकृष्ण का यही रूप देखा था। और स्वामीजी द्वारा प्रचारित 'शिवबोध से जीवसेवा' परोपकार नहीं, बल्कि साधना का एक युगोपयोगी सहज रूप है — इस बात की तत्काल धारणा कर पाना उनके लिए सम्भव नहीं था। अतः स्वामी योगानन्द तत्काल कह उठे, "तुम्हारा यह सब कार्य विदेशी ढंग पर हो रहा है। श्रीरामकृष्ण के उपदेश क्या इसी प्रकार के थे?" उत्तर में स्वामीजी ने कहा, "तुम्हें कैसे पता चला कि यह ठाकुर का भाव नहीं है? लगता है कि अनन्त भावमय ठाकुर को तुम लोग सीमा में बाँधकर रखना चाहते हो! मैं इस सीमा को तोड़कर उनके भाव सम्पूर्ण पृथ्वी पर फैला दूँगा। ठाकुर ने कभी मुझे अपनी पूजा-पाठ आदि आरम्भ करने का आदेश नहीं दिया था। साधन-भजन, ध्यान-धारणा तथा अन्य उच्च धर्मभावों के बारे में वे जो उपदेश दे गये हैं, उनकी अनुभूति करके जीवों को शिक्षा देनी होगी। अनन्त मत, अनन्त पथ। सम्प्रदायों से परिपूर्ण इस जगत में एक और नया सम्प्रदाय जोड़ने के लिए मेरा जन्म नहीं हुआ है। प्रभु के चरणों में आश्रय पाकर हम लोग धन्य हो गये हैं। तीनों लोकों में उनका भाव फैलाने के लिए ही हमारा जन्म हुआ है। ...तुम लोग सन्देह छोड़कर मेरे कार्य में सहायता करो, देखोगे उनकी इच्छा से सब पूरा हो जायेगा।"

स्वामी योगानन्द सन्तुष्ट होकर बोले, "तुम जैसा आदेश दोगे, हम वैसा ही करेंगे। हम तो सदा से ही तुम्हारे आज्ञाकारी हैं। मैं तो कभी कभी स्पष्ट रूप से देखता हूँ कि श्री गुरुदेव स्वयं तुमसे यह सब कार्य करा रहे हैं। परन्तु बीच बीच में न जाने क्यों मन में ऐसा सन्देह आ जाता है। मैंने गुरुदेव की कार्य करने की रीति कुछ और ही प्रकार की देखी थी न, इसीलिए सन्देह होता है कि कहीं हम उनकी शिक्षा को छोड़ दूसरे पथ पर तो नहीं चल रहे हैं? इसीलिए बीच बीच में तुम्हें सावधान कर देता हूँ।"

दो वर्ष बाद एक अन्य गुरुभाई स्वामी अद्भुतानन्द ने हँसी हँसी में स्वामीजी से पूछ बैठे कि वे जिस कार्यप्रणाली से कार्य कर रहे हैं, उसके साथ श्रीरामकृष्ण के जीवन तथा शिक्षाओं का सामंजस्य कहाँ है? स्वामीजी ने भी विनोदपूर्वक उत्तर

दिया, "तुम लोग भला क्या जानो! घोर अज्ञानी जो ठहरे! तुम लोग तो बस भक्तों की एक टोली हो, भावरोग से ग्रस्त उन्मादियों के दल हो। तुम लोग भला धर्म के बारे में क्या जानो? ...तुम लोग सोचते हो कि मुक्ति तो हाथ की मुट्ठी में है और अन्तिम दिन श्रीरामकृष्ण आकर तुम लोगों को हाथ पकड़कर सीधे गोलोक में खींच ले जायेंगे। और ज्ञान की चर्चा, लोकशिक्षा, दुखी-अनाथों की सेवा आदि सब माया है; क्योंकि परमहंसदेव ने तो यह सब किया नहीं! और किसी किसी को सम्भवतः उन्होंने कहा था, 'पहले ईश्वर की प्राप्ति करो, उसके बाद बाकी सब! दूसरों का उपकार करने जाना अनधिकार प्रयास है।' मानो ईश्वर की प्राप्ति कोई हँसी-खेल हो! भगवान तुम्हारे लिए एक खिलौना है न, कि खोजते ही हाथ में आ जायगा।"

इस बीच कुछ गुरुभाइयों द्वारा बीच बीच में टोके जाने पर स्वामीजी बड़े गम्भीर हो गये और अपने हृदय के उच्छ्वास को सँभालने में असमर्थ होकर गरज उठे, "तुम लोग सोचते हो कि तुम्हीं लोग उन्हें समझ सके हो और मैं बिल्कुल भी नहीं समझ सका हूँ ! तुम लोग सोचते हो कि ज्ञान एक नीरस तथा शुष्क चीज है और उसकी चर्चा करने के लिए हृदय की कोमल वृत्तियों का गला दबाकर मार डालना पड़ता है। तुम लोग जिसे भक्ति कहते हो, वह तो एक भयानक मूर्खता है। तुम लोग समझ नहीं पाते कि वह मनुष्य को दुर्बल बनाती है। जाने दो, भला कौन तुम्हारे रामकृष्ण की परवाह करता है? कौन तुम्हारे भक्ति-मुक्ति की परवाह करता है? किसे यह जानने की चाह है कि तुम्हारे शास्त्रों में क्या लिखा है? यदि मैं अपने देशवासियों को जड़ता के कूप से निकालकर मनुष्य बना सका, यदि उन्हें कर्मयोग के आदर्श में अनुप्राणित कर जगा सका, तो मैं हँसते हँसते हजारों नरकों में जाने को राजी हूँ। मैं तुम्हारे रामकृष्ण-वामकृष्ण किसी की भी बातें नहीं सुनना चाहता। जो मेरे उद्देश्य के अनुसार कार्य करना चाहता है, मैं उसी की बातें सुनूँगा। मैं रामकृष्ण या किसी का भी गुलाम नहीं हूँ — गुलाम हूँ तो केवल उसी का, जो अपनी भक्ति-मुक्ति की चिन्ता छोड़कर दूसरों की सेवा करने के लिए प्रस्तुत है।"

एक अन्य वरिष्ठ गुरुभाई 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' के प्रणेता श्री महेन्द्रनाथ दत्त भी एक बार स्वामीजी के साथ वार्तालाप के दौरान बोले, "देखो, तुम जो दया, परोपकार और जीवसेवा आदि की बातें करते हो, वे तो माया के राज्य की बातें हैं। जब वेदान्त-मत में मानव का चरम लक्ष्य मुक्ति-लाभ और माया-बन्धन का उच्छेद है, तो फिर उन सब माया-व्यापारों में लिप्त होकर लोगों को दया, परोपकार आदि विषयों का उपदेश देने से क्या लाभ?" इस पर स्वामीजी ने तत्काल उत्तर

दिया, "मुक्ति भी क्या माया के अन्तर्गत नहीं आती? आत्मा तो नित्य मुक्त है, फिर उसकी मुक्ति के लिए चेष्टा कैसी?"[१]

स्वामीजी का तात्पर्य यह था कि मुक्तिलाभ के लिए जैसे कुछ अधिकारियों के लिए शास्त्र पढ़ना तथा जप-ध्यान आदि आवश्यक है, उसी प्रकार कुछ अन्य साधकों के लिए दया, परोपकार, सेवा भी उपयुक्त सिद्ध हो सकते हैं। एक को स्वीकार करने से दूसरे को भी स्वीकार करना होगा, क्योंकि शरीर, मन या बुद्धि के द्वारा सम्पन्न होनेवाली सारी क्रियाएँ माया के अन्तर्गत ही आती हैं और उपरोक्त दोनों प्रकार की क्रियाएँ विद्या माया से प्रेरित होने के कारण मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करती हैं।

इस प्रकार स्वामीजी ने इन प्रसंगों के माध्यम से भविष्य के लिए भी अपने द्वारा प्रवर्तित सेवाधर्म के विषय में सारी शंकाओं का समाधान कर दिया।

प्रारम्भिक प्रकल्प

मिशन का पहला सेवाकार्य कैसे आरम्भ हुआ, उसकी पृष्ठभूमि कुछ इस प्रकार है। श्रीरामकृष्ण की महासमाधि के बाद उनके शिष्यगण कलकत्ते के ही एक छोर पर स्थित वराहनगर अंचल में एक टूटे-फूटे किराये के मकान में मठ बनाकर निवास कर रहे थे। १८९७ ई. के प्रारम्भ में स्वामीजी के एक शिष्य स्वामी सदानन्द को एक कुत्ते ने काट लिया था। उनके लिए औषधि लाने के लिए स्वामी अखण्डानन्द चन्दननगर के समीप स्थित गोंदलपारा गये और वहाँ से दवा भेजने के बाद श्री चैतन्य महाप्रभु के जन्मस्थान नवद्वीप आदि तीर्थों का दर्शन करने गये। लौटते समय मुर्शिदाबाद के मार्ग में उन्हें, उन दिनों उस अंचल में फैले घोर अकाल का विकराल रूप प्रत्यक्ष रूप से देखने को मिला। जिस हृदय-विदारक घटना ने उनके हृदय को आन्दोलित कर दिया था, उसका चित्रण इसी अंक में अन्यत्र प्रकाशित निराला की 'सेवा-प्रारम्भ' कविता में प्राप्त होता है। वहाँ से आगे बढ़ने पर वे अकालग्रस्तों की और भी दुर्दशा देखकर अभिभूत हो उठे और वहीं भावता नामक ग्राम में ठहरकर लोगों की सेवा में लग गये। फिर उन्होंने धन तथा कुछ सहयोगी भेजने के लिए वराहनगर मठ को पत्र लिखा। नवगठित 'रामकृष्ण मिशन' ने अपने प्रथम प्रकल्प के रूप में १५ मई से वहाँ कार्य आरम्भ किया और क्रमशः इसने अत्यन्त व्यापक रूप धारण किया। इसी को आधुनिक भारत का सर्वप्रथम संगठित राहत-कार्य कहा जा सकता है।

---

१. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड १०, पृ. ३४४

मिशन का दूसरा महत्वपूर्ण प्रकल्प था — प्लेग निवारण। आगामी वर्ष — १८९८ ई० में कलकत्ते में प्लेग की भीषण महामारी फैल गयी थी और लोगों में इतना आतंक फैल गया था कि वे लाखों की संख्या में नगर छोड़कर भागने लगे थे। मिशन ने स्वामी सदानन्द तथा भगिनी निवेदिता के नेतृत्व में बड़े ही विशाल पैमाने पर सेवाकार्य किया था। इसका विस्तृत विवरण 'विवेक-ज्योति' के दो अंकों में पहले ही प्रकाशित किया जा चुका है।[१]

१८९९-१९०० ई० के दौरान मिशन के द्वारा निम्नलिखित अन्य प्रकल्प भी चलाये गये —

- भागलपुर (बिहार) तथा चौबीस परगना (बंगाल) में बाढ़पीड़ितों के बीच राहतकार्य
- किसनगढ़ (राजस्थान) तथा निमाड़ (मध्यप्रदेश) में अकालपीड़ितों के बीच सेवा
- दार्जिलिंग में भूस्खलन से पीड़ितों की सहायता

इन राहतकार्यों के पश्चात् ही स्वामी कल्याणानन्द तथा निश्चयानन्द के द्वारा कनखल में और स्वामी शुभानन्द व अचलानन्द आदि के द्वारा वाराणसी में अत्यन्त लघु स्तर पर असहाय तथा निर्धन रोगियों की सेवा का कार्य आरम्भ हुआ, जो आज वह विशाल सेवाश्रमों का रूप धारण कर चुका है।

मिशन की स्थापना के बाद स्वामी विवेकानन्द के बचे हुए लगभग पाँच वर्षों के जीवनकाल के दौरान इसके माध्यम से मुख्यतः उपरोक्त कार्य हुए। लगभग बारह वर्षों तक मिशन को कोई कानूनी दर्जा प्राप्त नहीं था। ४ मई, १९०९ ई. को (१८६० ई. के एक्ट २१ के अनुसार) मिशन का पंजीकरण कराया गया। बेलुड़ मठ को ही इसका भी मुख्यालय बनाया गया और इसके नवनिर्मित संविधान के अनुसार मठ के ट्रस्टीगण ही इसके संचालक-मण्डल के सदस्य तथा पदाधिकारी होने लगे। तब से (पिछले ८७ वर्षों के दौरान) प्रतिवर्ष नवम्बर या दिसम्बर में मठ के परिसर में इसकी साधारण सभा आयोजित की जाती है, जिसमें मिशन के द्वारा पिछले वर्ष सम्पादित कार्यों का लेखाजोखा प्रस्तुत किया जाता है तथा भावी नीतियों के विषय में निर्णय लिये जाते हैं। मिशन की पिछली सभा का एक संक्षिप्त प्रतिवेदन अगले अंक में प्रकाशित किया जा रहा है।

□

१. देखिए — १९९५ के जनवरी तथा अप्रैल अंक

सेवा - प्रारम्भ

पं. सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

(अपनी 'अनामिका' नामक काव्यसंग्रह में कवि ने इस कविता की भूमिका के तौर पर लिखा है — ''यह एक कथा है, उस समय की, जब इस देश में देश के ही लोगों या संस्था द्वारा किसी प्रकार की सेवा प्रचलित न हुई थी। यह कार्य श्री रामकृष्ण मिशन शुरू करता है। यह कथा जिस घटना के आधार पर है, वह बंगाल में घटी था। परमहंस श्रीरामकृष्णदेव के शिष्य स्वामी विवेकानन्दजी के गुरुभाई स्वामी अखण्डानन्दजी इस घटना के चरितनायक हैं। ये उस समय वहाँ भ्रमण कर रहे थे। यह सेवा इन्होंने की थी। इसके बाद संघबद्ध रूप से श्री रामकृष्ण मिशन लोकसेवा करता है। इसके बाद देश में अन्यान्य सेवादल संगठित होते हैं। मिशन की शताब्दी के अवसर इसके इतिहास के एक प्रमुख घटना का निरूपण करनेवाली कविता का यह पुनर्मुद्रण प्रस्तुत है। — सं०)

अल्प दिन हुए, भक्तों ने रामकृष्ण के चरण छुए।
जगी साधना, जन-जन में भारत की नवाराधना।
नयी भारती, जागी जन-जन को कर नयी आरती।
घोर गगन को अगणन, जागे रे चन्द्र-तपन —
पृथ्वी-गृह-तारागण ध्यानाकर्षण,
हरित-कृष्ण-नील-पीत, रक्त-शुभ्रज्योति-नीत
नव-नव विश्वोपवीत, नव-नव साधन।

खुले नयन नवल रे — ऋतु के-से भिन्न सुमन
करते ज्यों विश्व-स्तवन, आमोदित किये पवन भिन्न गन्ध से।
अपर ओर करता विज्ञान घोर नाद
दुर्धर शत-रथ-घर्घर विश्व विजय-वाद।
स्थल-जल है समाच्छन्न, विपुल-मार्ग-जाल-जन्य,
तार-तार समुत्पन्न देश-महादेश,
निर्मित शत लौहयन्त्र, भीमकाय मृत्युतन्त्र
चूस रहे अन्त्र, मन्त्र रहा यही शेष।
बढ़े समर के प्रहरण, नये-नये हैं प्रकरण,
छाया उन्माद मरण-कोलाहल का,
दर्प जहर, जर्जर नर, स्वार्थपूर्ण गूँजा स्वर,
रहा है विरोध घहर इस-उस दल का।

बँधा व्योम, बढ़ी चाह, बहा प्रखरतर प्रवाह,
वैज्ञानिक समुत्साह आगे, सोये सौ-सौ विचार, थपकी दे बार-बार
मौलिक मन को सुधार जागे !
मैक्सिम-गन् करने को जीवन-संहार
हुआ जहाँ, खुला वहीं नोबल-पुरस्कार !
राजनीति नागिनी, डँसती है, हुई सभ्यता अभागिनी।

जितने थे यहाँ नवयुवक — ज्योति के तिलक
खड़े सहोत्साह, एक-एक लिये हुए प्रलयानल-दाह।
श्री 'विवेक', 'ब्रह्म', 'प्रेम', 'सारदा'[1] ज्ञान-योग-भक्ति-कर्म-धर्म-नर्मदा —
बही विविध आध्यात्मिक धाराएँ, तोड़ गहन प्रस्तर की काराएँ,
क्षिति को कर जाने को पार, पाने को अखिल विश्व का समस्त सार।
गृही भी मिले, आध्यात्मिक जीवन के रूप यों खिले।
अन्य ओर भीषण रव — यान्त्रिक झंकार — विद्या का दम्भ,
यहाँ महा मौन भरा स्तब्ध निराकार — नैसर्गिक रङ्ग।
बहुत काल बाद, अमेरिका-धर्ममहासभा का निनाद
विश्व ने सुना, काँपी संस्कृति की थी दरी,
गरजा भारत का वेदान्त केसरी।
श्रीमत्स्वामी विवेकानन्द, भारत के मुक्त-ज्ञानछन्द
बँधे भारती के जीवन से, गान गहन एक ज्यों गगन मे,
आए भारत, नूतन शक्ति ले जगी, जाति यह रँगी।
स्वामी श्रीमदखण्डानन्द जी, एक और प्रति उस महिमा की,
करते भिक्षा फिर निस्सम्बल, भगवा-कौपीन-कमण्डलु-केवल;
फिरते थे मार्ग पर, जैसे जीवित विमुक्त ब्रह्म-शर।
इसी समय भक्त रामकृष्ण के, एक जमींदार महाशय दीखे।
एक दूसरे को पहचान कर, प्रेम से मिले अपना अति प्रिय जन जानकर।
जमींदार अपने घर ले गये, बोले — "कितने दयालु, रामकृष्ण देव थे!
आप लोग धन्य हैं, उनके जो ऐसे अपने, अनन्य हैं।" —
द्रवित हुए। स्वामी जी ने कहा — नवद्वीप जाने की है इच्छा,
महाप्रभु श्रीमच्चैतन्य देव का स्थल, देखूँ, पर सम्यक् निस्सम्बल
हूँ इस समय, जाता है पास तक जहाज, सुना है कि छूटेगा आज।"

१. स्वामी विवेकानन्द, ब्रह्मानन्द, प्रेमानन्द, सारदानन्द

धूप चढ़ रही थी बाहर को, जमींदार ने देखा, घर को,
फिर घड़ी, हुए उन्मन, अपने आफ़िस का कर चिन्तन;
उठे, गये भीतर, बड़ी देर बाद आए बाहर,
दिया एक रुपया, फिर फिरकर, चले गये आफ़िस को सत्वर।

स्वामी जी घाट पर गये, "कल जहाज छूटेगा" सुनकर
फिर रुक नहीं सके, जहाँ तक करें पैदल पार — गङ्गा के तीर से चले।
देखा, हैं दृश्य और ही बदले, दुबले-दुबले जितने लोग,
लगा देश भर को ज्यों रोग,
दौड़ते हुए दिन में स्यार, बस्ती में — बैठे भी गीध महाकार,
आती बदबू रह-रह, हवा बह रही व्याकुल कह-कह;
कहीं नहीं पहले की चहल-पहल, कठिन हुआ यह, जो था बहुत सहल।
सोचते व देखते हुए, स्वामी जी चले जा रहे थे।

इसी समय एक मुसलमान-बालिका
भरे हुए पानी मृदु आती थी पथ पर, अम्बुपालिका;
घड़ा गिरा, फूटा, देख बालिका का दिल टूटा,
होश उड़ गये, काँपी वह सोच के,
रोई चिल्लाकर, फिर ढाढ़ मार-मार कर, जैसे माँ-बाप मरे हों घर।
सुनकर स्वामी जी का हृदय हिला,
पूछा — "कह, बेटी, कह, क्या हुआ?"
फफक-फफक कर, कहा बालिका ने — मेरे घर
एक यही बचा था घड़ा, मारेगी माँ सुनकर फूटा।"
रोयी फिर, वह विभूति कोई !
स्वामी जी ने देखी आँखें — गीली वे पाँखें
करुण स्वर सुना, उमड़ी स्वामी जी में करुणा।
बोले — "तुम चलो, घड़े की दुकान जहाँ हो,
नया एक ले दें;" खिली बालिका की आँखे।
आगे-आगे चली, बड़ी राह होती बाजार की गली,
आ कुम्हार के यहाँ, खड़ी हो गई घड़े दिखा
एक देखकर पुख्ता सब में विशेखकर,
स्वामीजी ने उसे दिला दिया, सुख होकर हुई वह विदा।
मिले रास्ते में लड़के, भूखों मरते।

बोली वह देख के — "एक महाराज, आए हैं आज,
पीले-पीले कपड़े पहने, होंगे उस घड़े की दुकान पर खड़े
इतना अच्छा घड़ा, मुझे ले दिया !
जाओ, पकड़ो उन्हें, जाओ, ले देंगे खाने को, खाओ।"
दौड़े लड़के, तब तक स्वामीजी थे बातें करते,
कहता दुकानदार उनसे — "हे महाराज,
ईश्वर की गाज, यहाँ है गिरी, है बिपत बड़ी,
पड़ा है अकाल, लोग पेट भरते हैं खा-खाकर पेड़ों की छाल।
कोई देता नहीं सहारा, रहता हर एक यहाँ न्यारा,
मदद नहीं करती सरकार,
क्या कहूँ, ईश्वर ने ही दी है मार, तो कौन खड़ा हो?"

इसी समय आये वे लड़के, स्वामी के पैरों आ पड़े।
पेट दिखा, मुँह को ले हाथ, करुणा की चितवन से, साथ
बोले, -"खाने को दो, राजों के महाराज तुम हो।"
चार आने पैसे, स्वामीजी के तब तक थे बचे।
चूड़ा दिलवा दिया, खुश होकर लड़कों ने खाया, पानी पिया।
हँसा एक लड़का, फिर बोला — "यहाँ एक बुढ़िया भी है, बाबा,
पड़ी झोपड़ी में मरती है, तुम देख लो, उसे भी, चलो।"
कितना यह आकर्षण, स्वामीजी के उठे चरण।
लड़के आगे हुए, स्वामी पीछे चले।
खुश हो नायक ने आवाज दी, बुढ़िया री, आये हैं बाबा जी।
बुढ़िया मर रही थी, गन्दे में फर्श पर पड़ी।
आँखों में ही कहा, जैसा कुछ उस पर बीता था।
स्वामी जी पैठे, सेवा करने लगे,
साफ की वह जगह, दवा और पथ फिर देने लगे
मिलकर अफसरों से, भीख माँग बड़े-बड़े घरों से।
लिखा मिशन को भी, दृश्य और भाव दिखा जो भी।

खड़ी हुई बुढ़िया सेवा से, एक रोज बोली —
"तुम मेरे बेटे थे उस जन्म के।"
स्वामीजी ने कहा — "अबके भी हो तुम मेरी माँ।"

□

रामकृष्ण मिशन का आदर्श

स्वामी यतीश्वरानन्द

(प्रस्तुत लेख १९२६ ई. में वेलुड़ मठ में आयोजित रामकृष्ण संघ के प्रथम महासम्मेलन के अवसर पर पढ़ा गया था और तदुपरान्त उसके विस्तृत प्रतिवेदन में प्रकाशित हुआ। इसमें संघ के एक वरिष्ठ विचारक द्वारा मिशन के कार्यों के पीछे निहित युगान्तरकारी आदर्शों के विषय में शास्त्रों के आधार पर सविस्तार चर्चा करते हुए, कतिपय भ्रमों के निवारण का प्रयास किया गया है, अतः आज भी इसकी काफी उपादेयता है और इसी कारण अंग्रेजी से इसका अनुवाद इस विशेषांक के लिए यहाँ विशेष रूप से प्रस्तुत कर रहे हैं। - सं.)

"त्याग और सेवा भारत के राष्ट्रीय आदर्श हैं। उसके इन्हीं भावों को प्रबल बनाओ; बाकी सब कुछ अपने आप ठीक हो जायगा।" — स्वामी विवेकानन्द

लॉर्ड रोनाल्डशे अपने 'आर्यावर्त का हृदय' ग्रन्थ में रामकृष्ण मठ व मिशन के विषय में लिखते हैं, "संन्यासियों तथा ब्रह्मचारियों के इस संघ (रामकृष्ण मठ) के साथ एक मिशन (सेवा-संस्था) भी जुड़ा हुआ है; ये दो संगठन क्रमशः त्याग और सेवा मूर्तरूप हैं, जिन्हें स्वामी विवेकानन्द ने भारत के दो राष्ट्रीय आदर्श कहा है। मिशन सामाजिक, धर्मार्थ तथा शैक्षिक — सभी प्रकार के सेवाकार्यों में संलग्न है; और मठ अपनी आध्यात्मिक संस्कृति के माध्यम से उन महान आदर्शों तथा अनुभूतियों के प्रचार-प्रसार को समर्पित हैं, जिन्हें श्रीरामकृष्ण परमहंस ने अपने जीवन में प्रदर्शित किया था।" यहाँ पर एक स्पष्टीकरण आवश्यक है। त्याग तथा सेवा के द्विविध आदर्श भी मठ तथा मिशन नामक संस्थाओं की भाँति ही अभिन्न हैं। सामान्य दृष्टि से कहें तो जहाँ रामकृष्ण मठ के केन्द्रों में त्याग तथा आध्यात्मिक उन्नति पर अधिक बल दिया जाता है, वहीं रामकृष्ण मिशन की विभिन्न शाखाओं में ऐसे कार्य-कलापों का बाहुल्य है, जिन्हें सामान्यतः सेवा कहते हैं। परन्तु आगे हम देखेंगे कि सच्ची सेवा भी आध्यात्मिक प्रगति का ही एक रूप है।

रामकृष्ण मठ तथा मिशन रूपी इन युग्म संस्थाओं की स्थापना करने में स्वामी विवेकानन्द का उद्देश्य अपने महान गुरुदेव के कार्य को ही आगे बढ़ाना था। इसके लिये उन्हें कार्यकर्ताओं के एक ऐसे संघ के निर्माण की आवश्यकता थी, जो 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च' — अपनी मुक्ति तथा जगत के कल्याण हेतु — पूर्णरूपेण कटिबद्ध हो। इन उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए, स्वामीजी ने संन्यास के उन

प्राचीन आदर्शों को ही अभिव्यक्त करने का प्रयास किया, जिसमें न केवल मौन साधना तथा मौन प्रचार की प्राचीन विधि का, अपितु अर्वाचीन विश्व की भाषा में सेवा — आध्यात्मीकृत सेवा की नवीन विधियों का भी समावेश था। इसमें जाति, वर्ग, सम्प्रदाय तथा राष्ट्रीयता से निरपेक्ष भाव से प्रत्येक व्यक्ति को ईश्वर की साकार अभिव्यक्ति मानते हुए उनकी आवश्यकताओं के अनुरूप भौतिक, बौद्धिक या आध्यात्मिक सेवा की जानी थी।

आत्मविस्मृति या अपनी निम्नतर कामनाओं तथा आवेगों के आश्रयरूप 'अहं' का नाश करना ही त्याग का सर्वोच्च रूप है। इसमें आत्मा के सच्चे स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए उसकी निम्नतर रूपों का बलिदान सम्मिलित है। जैसा कि स्वामी विवेकानन्द ने कहा है, "जब हम सभी की मृत्यु निश्चित है, तो क्यों न हम एक महान उद्देश्य के लिये ही प्राण त्यागें। हमारे समस्त कर्म आत्मत्याग की भावना से ही प्रेरित हों।" अन्न के द्वारा पोषित हमारा शरीर, मानवता के कल्याण हेतु बलिदान हो। अध्ययन के द्वारा पोषित हमारा मन, मानसिक अन्धकार में भटकते लोगों की सेवा में उत्सर्ग हो जाय। मनःसंयम तथा आध्यात्मिक साधना के द्वारा विकसित हमारी आत्मा, संसार-अनल से दग्ध उच्चतर जीवन के पिपासु जीवों की आध्यात्मिक सहायता में लग जाय। इस उपाय के द्वारा हम अपनी दैहिक मृत्यु को आध्यात्मिक पुनर्जन्म में रूपान्तरित कर सकते हैं। स्वामी विवेकानन्द ने त्याग के इसी आदर्श को रामकृष्ण मिशन के सदस्यों तथा सम्पूर्ण विश्व के समक्ष रखा और इसका रूपायन सेवा के माध्यम से सम्भव है।

रामकृष्ण मिशन मूलतः एक धार्मिक संगठन है, सेवा जिसकी साधना का एक अंग है। यह धर्म के सार्वभौम आदर्शों के प्रति निष्ठावान है। भारत तथा यूरोप, अमेरिका में स्थित इसके अनेक प्रचार-केन्द्र अपने सदस्यों के जीवन तथा विचारों के माध्यम से सच्चे धर्म के सार्वलौकिक स्वरूप के प्रचार-प्रसार में लगे हुए हैं और विश्व के विभिन्न धर्ममतों के अनुयायियों में बन्धुत्व की भावना जगाने हेतु समर्पित हैं। यह आदर्श वस्तुतः श्रीरामकृष्ण की उन अनुभूतियों से ही अनुप्राणित है, जिनका उन्होंने अपने जीवन में साक्षात्कार किया था कि सभी सम्प्रदाय एक ही शाश्वत तथा सार्वभौमिक धर्म की भिन्न-भिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। मिशन के शिक्षालय सेवा भावना के साथ छात्रों को प्राच्य एवं पाश्चात्य संस्कृतियों के सर्वोत्तम तत्त्वों का ज्ञान कराने का प्रयास करते हैं और विद्यार्थियों के चरित्रनिर्माण के लिए आवश्यक

नैतिक तथा आध्यात्मिक संस्कार प्रदान करते हैं। इसके स्थायी सेवाकेन्द्रों में प्रायः संन्यासीगण ही चिकित्सा, परिचर्या आदि का कार्य करते हैं तथा अन्य प्रकार की सेवायें भी उपलब्ध कराते हैं और इस प्रकार विभिन्न नगरों तथा ग्रामों में निर्धनों तथा दीन-दुखियों के दुःख-कष्ट तथा आपदाओं के निवारण में प्रयत्नशील हैं। दूसरी तरफ, इसके अस्थायी राहत केन्द्र प्लेग इन्फ्लुएंजा, बाढ़ तथा अकाल आदि व्यापक तथा भयंकर प्राकृतिक आपदाओं के समय, काफी जोखिम उठाकर भी पीड़ितों की सेवा तथा सहायता करते हैं।

स्वामी विवेकानन्द की प्रेरणा का मूलस्रोत क्या था?

स्वामीजी की प्रेरणा का मूलस्रोत उनके गुरुदेव का जीवन तथा उपदेश था। दरिद्र-नारायण की सेवा का श्रीगणेश उन्नीसवीं शताब्दी के छठें दशक में स्वयं श्रीरामकृष्ण ही कर गये थे। दक्षिणेश्वर के मन्दिर की संस्थापिका रानी रासमणि के दामाद बाबू मथुरानाथ विश्वास के साथ उत्तरी भारत के तीर्थों की यात्रा करते समय देवघर के निकट एक गाँव में वहाँ के अकालपीड़ित निवासियों की दुर्दशा देखकर श्रीरामकृष्ण का हृदय करुणा से अभिभूत हो उठा था और इसके फलस्वरूप उन्होंने मथुरबाबू से कहा था, "तुम तो जगदम्बा के दीवान हो, अतः एक दिन इन सभी निर्धनों को एक दिन भोजन-वस्त्र प्रदान करो।" परन्तु मथुरबाबू असमंजस में पड़ गये, क्योंकि तीर्थयात्रा में काफी अधिक व्यय होने की सम्भावना थी और श्रीरामकृष्ण जिन्हें अन्न-वस्त्र देने का आग्रह कर रहे थे, उनकी संख्या विशाल थी। उनकी बात मान लेने पर यात्रा के दौरान अर्थाभाव होने की आशंका थी। परन्तु श्रीरामकृष्ण भी अपनी बात पर अटल थे। अपने समक्ष स्थित पुरुषों, महिलाओं तथा बच्चों की दुर्दशा से व्यथित होकर वे रुदन करते हुये चीत्कार कर उठे, "मैं काशी नहीं जाऊँगा। मैं इन्हीं असहाय और पीड़ित लोगों के साथ रहूँगा।" इतना कहकर वे उन्हीं पीड़ाग्रस्त निर्धन ग्रामवासियों के बीच जाकर बैठ गये। मथुरबाबू के सामने दूसरा कोई विकल्प न था। उन्होंने कलकत्ते से वस्त्रों के गाँठ मँगवाये और ग्रामवासियों को भरपेट भोजन तथा वस्त्र प्रदान किया। इसके बाद श्रीरामकृष्ण सन्तुष्ट-चित्त होकर आनन्दपूर्वक तीर्थयात्रा जारी रखने को राजी हुए।

इस सेवा का क्या उद्देश्य था? स्वयं श्रीरामकृष्ण के ही शब्दों में, "यदि कोई निष्काम भाव से कोई वस्तु दान करता है, तो वह किसी दूसरे का नहीं, बल्कि खुद अपना ही भला करता है। इस प्रकार वह ईश्वर की ही सेवा करता है, जो सभी

जीवों में विराजमान है और ईश्वर-सेवा का अर्थ अपना ही कल्याण करना है। यदि कोई नाम-यश, स्वर्ग या प्रत्युपकार की कामना से रहित होकर, न केवल मनुष्यों, अपितु समस्त जीवों में व्यक्त ईश्वर की सेवा करता है, तो वस्तुतः वह निष्काम कर्म है और इससे उस व्यक्ति का ही लाभ होता है।'' श्रीरामकृष्ण ने सेवा के इसी भाव को प्रतिपादित किया। इस प्रकार सच्चे कर्मयोग की भावना से सम्पादित किया हुआ कर्म, पूजा में परिणत हो जाता है और यही चित्तशुद्धि तथा ईश्वरोपलब्धि के सर्वोत्कृष्ट साधनों में एक है।

स्वामी विवेकानन्द के साधनाकाल में ही श्रीरामकृष्ण ने इस आदर्श को उनके मानस-पटल पर अंकित कर दिया था। श्रीमत् स्वामी सारदानन्दजी अपने 'श्रीरामकृष्ण -लीलाप्रसंग' ग्रन्थ में उनके जीवन की एक ऐसी ही घटना का उल्लेख करते हुए लिखते हैं, ''एक बार श्रीरामकृष्ण भक्तों से घिरे दक्षिणेश्वर के अपने कमरे में बैठे थे। नरेन्द्रनाथ भी वहाँ उपस्थित थे। विविध विषयों पर चर्चा के साथ-ही-साथ हास-परिहास भी चल रहा था। बातचीत का दौर क्रमशः 'सर्वजीवों के प्रति दया' के आदर्श पर जा पहुँचा। ''सर्वभूतों पर दया!'' — कहते कहते श्रीरामकृष्ण समाधि में मग्न हो गये। धीरे-धीरे साधारण अवस्था में वापस आने के बाद भावावेश में ही उन्होंने उसी प्रसंग को जारी रखते हुए सेवादर्श की वास्तविक महत्ता का निरूपण किया। वे बोले — ''सर्वजीवों पर दया! धत् तेरे की! धरती पर रेंगनेवाला कीटानुकीट होकर भी तू दया दिखायेगा? दया दिखानेवाला तू कौन होता है? नहीं, दया नहीं, बल्कि शिवबोध से जीवसेवा!'' उपस्थित सभी लोगों में से एकमात्र नरेन्द्रनाथ ने ही श्रीरामकृष्ण की वाणी में निहित गूढ़ मर्म को समझा। उपरोक्त शब्दों में उन्हें ज्ञान का नया आलोक दिखाई पड़ा। इन्हीं शब्दों में उन्हें व्यावहारिक वेदान्त का वह अभिनव सूत्र मिला, जिसके द्वारा वेदान्त के वे चरम आदर्श, जो वनों तथा गुफाओं में रहनेवाले साधु-संन्यासियों की सम्पत्ति थे, अब नगरों तथा बाजारों में भी लाकर संन्यासी-गृहस्थ सभी के जीवन में उपयोग किया जा सकता था। सर्वोच्च ज्ञान की उपलब्धि हेतु अब किसी को समाज अलग होने अथवा अपने हृदय से प्रेम आदि की पवित्र भावनाओं का दमन करने की आवश्यकता नहीं थी, बल्कि सभी को ईश्वर का ही प्रतिरूप मानकर श्रद्धा तथा प्रेम सहित उनकी सेवा करने मे साधक का चित्त निश्चित रूप से शुद्ध होगा और सामान्यतया परोपकार से मन में उत्पन्न होनेवाले अपनी श्रेष्ठता के अहंकार तथा औद्धत्य से मुक्त होकर अन्ततः समस्त भूतों तथा स्वयं में भी, ईश्वर की सत्ता का अनुभूति प्राप्त करेगा। नरेन्द्रनाथ ने श्रीरामकृष्ण द्वारा प्रतिपादित इस 'सेवा-दर्शन' को हृदयंगम कर लिया और बोले कि यदि ईश्वर

की इच्छा हुई तो भविष्य में वे इसका सम्पूर्ण विश्व में प्रचार करेंगे। ईश्वरेच्छा से स्वामीजी की वह आशा पूरी हुई और इस सेवाधर्म के महान सन्देशवाहक बनकर उन्होंने इस उदात्त सुसमाचार को शिक्षित-अशिक्षित, धनी-निर्धन, ब्राह्मण-चाण्डाल — सभी के द्वार पर पहुँचा दिया।

सेवा का यह मार्ग ईश्वरोपलब्धि का एक सुनिश्चित उपाय है। श्रीरामकृष्ण और उन्हीं के नक्से-कदम पर चलते हुए उनके पट्टशिष्य स्वामी विवेकानन्द ने अपने जीवन में जिस ईश्वर की आराधना तथा साक्षात्कार किया, वह किसी अमूर्त कल्पना का विषय नहीं था। वह तो एक ऐसा मूलभूत जीवन्त सत्य था, जो युगपत् रूप से सापेक्ष-निरपेक्ष, सर्वव्यापी तथा सर्वातीत — दोनों ही था। और जो सार्वलौकिक प्रेम-भावना इन दोनों महापुरुषों के हृदय को आन्दोलित करती थी, उसका मूल 'बहुत्व में एकत्व' की इसी अनुभूति से उत्थित हुआ था। श्रीरामकृष्ण ने घोषणा की, "मैं उन्हें सभी में और सभी रूपों में देखता हूँ। मनुष्य तथा अन्य समस्त प्राणी बाहर से अलग अलग रंग-रूप के दिखते हैं, परन्तु भीतर वही ईश्वर है। उसी एक तत्व ने समस्त जीवों सहित इस ब्रह्माण्ड का रूप धारण किया है। मैं देखता हूँ कि सब कुछ उसी एक तत्व से आया है।" अतः ईश्वर की उपासना न केवल ईंट-गारे से बने मन्दिर में, अपितु रक्त-मांस से बने नरकाया रूपी मन्दिर में भी सम्पन्न हो सकती है। यदि ईश्वर सर्वभूतों में विद्यमान हैं, तो क्या वे रोगी-पीड़ितों में, अज्ञानी अशिक्षितों में और जीवन-पिपासु थके-मादे लोगों में नहीं हैं? सर्वभूतों में विराजमान ईश्वर की इसी अनुभूति ने स्वामी विवेकानन्द को वह प्रेरणा दी, जिसके फलस्वरूप वे पूर्ण आवेग के साथ ऐसी घोषणा कर सके — "मेरी अभिलाषा है कि बारम्बार जन्म लूँ और हजारों दुख भोगता रहूँ, ताकि मैं सभी प्राणियों के समष्टिरूप उस एकमात्र ईश्वर की पूजा कर सकूँ, जिसकी वास्तविक सत्ता है और जिसका मुझे विश्वास है । और सर्वोपरि, सभी जातियों तथा वर्णों के पापी, तापी तथा निर्धन मेरे विशेष उपास्य हैं।" इसके आगे भी वे कहते हैं, "हम परम सौभाग्यशाली हैं कि हमें उनकी सहायता करने का नहीं, बल्कि उनके लिये कार्य करने का मौका प्राप्त हुआ है। इस 'सहायता' शब्द को अपने मन से निकाल डालो। तुम्हें केवल पूजा ही कर सकते हो। समस्त विश्व को ऐसी ही विनम्र श्रद्धा के भाव से देखो।"

स्वामी विवेकानन्द के जीवन तथा उपदेशों द्वारा प्रचारित इस सेवाधर्म के विषय में अनेक भ्रान्तियाँ फैली हुई हैं। स्वामीजी ने धर्म के इस क्रियात्मक रूप की शिक्षा अपने गुरुदेव के ही चरणों में प्राप्त की,जो स्वयं ही व्यावहारिक वेदान्त की सजीव

प्रतिमूर्ति थे। तथापि आज भी यह शंका उठायी जाती है कि सेवा का यह आदर्श हिन्दू धर्म से ही अनुप्रेरित है, या नहीं। कुछ सोचते हैं कि यह ईसाई धर्म से प्रेरित है, परन्तु वे इस महत्वपूर्ण तथ्य को भुला देते हैं कि भारत में इसका अस्तित्व उस काल से है, जब ईसा के आविर्भाव की किसी ने कल्पना तक नहीं की थी। इन प्रेरणाओं का मूल उत्स हमें उपनिषदों में मिलता है, जो कि हिन्दू धर्मजीवन के चिर गोमुख हैं। निःसन्दिग्ध रूप से हम यह भी जानते हैं कि स्वामी विवेकानन्द को इसकी प्रेरणा स्वयं उनके गुरुदेव श्रीरामकृष्ण से ही मिली। परन्तु श्रीरामकृष्ण का जीवन भी तो उसी सनातन आध्यात्मिक प्रवाह का एक अंग है, जो हिन्दू धार्मिक चेतना के उदयकाल से ही प्रवाहित होता रहा है। और यह परम्परा अतीत उस गहन कुहासे से आच्छन्न है जिसमें इतिहास तक झाँकने का साहस नहीं कर पाता।

सेवा तथा परोपकार का भाव हिन्दू धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों में से एक है। उपनिषदों के ऋषि घोषणा करते हैं —

त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमः ।

— "धर्म की तीन शाखाएँ हैं — यज्ञ, स्वाध्याय तथा दान उनमें प्रथम है।"

एतत् त्रयं शिक्षेत् दमं दानं दयामिति ।

— "इन्द्रियनिग्रह, परोपकार तथा दया – इन तीनों की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।"

इसके उपरान्त —

श्रद्धया देयम्। अश्रद्धयाऽदेयम्। श्रिया देयम्।
ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्।

— "दान श्रद्धापूर्वक दान करना चाहिए। श्रद्धारहित होकर नहीं देना चाहिये। प्रभूत मात्रा में देना चाहिए। विनम्र भाव से देना चाहिए। भय तथा करुणा-भाव से देना चाहिये।"

फिर कहा गया —

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव।

— "माता तुम्हारे लिए देवतारूप हों। पिता तुम्हारे लिए देवतारूप हों। गुरु तुम्हारे लिए देवतारूप हों। अतिथि तुम्हारे लिए देवतारूप हों।"

दया व परोपकार की सर्वत्र स्तुति की गयी है, यद्यपि कभी कभी इसकी कुछ सीमायें भी निर्धारित कर दी गयी हैं।

श्रीकृष्ण भगवद्गीता में घोषणा करते हैं —

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।

— "यज्ञ, दान व तप ज्ञानियों तक को पवित्र करनेवाले हैं।"

परोपकार की परिधि कभी-कभी सीमित होती है। परन्तु भगवान कृष्ण उन सन्तों का उल्लेख करते हैं, जिनका प्रेम अपने प्रवाह में सम्पूर्ण संसार को प्लावित कर देता है।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ।। ५/२५

— "जिनके दोष क्षीण हो तथा संशय दूर हो गये हैं, जो जितेन्द्रिय हैं तथा जो समस्त भूतों के कल्याण में रत हैं, ऐसे ऋषिगण पूर्ण मुक्ति प्राप्त करते हैं।"

दैवीसम्पदा युक्त होकर जन्म लेनेवाले महापुरुषों के लक्षण गिनाते हुये श्रीकृष्ण कहते हैं —

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ।। १६/२

— "अहिंसा, सत्य, क्रोध का अभाव, त्याग, मानसिक शान्ति, परनिन्दा से मुक्ति, सर्वजीवों के प्रति दया, पराये धन के प्रति लोभहीनता, ईर्ष्याराहित्य, मृदुता, विनम्रता तथा चित्त की अचंचलता।" इसमें से अहिंसा तथा सर्वजीवों से प्रेम आध्यात्मिक जीवन के दो अत्यन्त महान गुण हैं।

समस्त जीवों के प्रति प्रेम हिन्दू ऋषियों तथा सन्तों के जीवन का मूल स्वर है। देवताओं के कल्याण हेतु अपने प्राणों का उत्सर्ग कर देने वाले ऋषि दधीचि श्रीमद्भागवत में कहते हैं —

योऽध्रुवेणात्मना नाथा न धर्मं न यशः पुमान् ।
ईहेत भूतदयया स शोच्यः स्थावरैरपि।। ६/१०/८

— "जो इस नश्वर शरीर के द्वारा समस्त जीवों पर दया के माध्यम से धर्म तथा यश की प्राप्ति नहीं करता, उसके बारे में जड़ पदार्थ तक खेद प्रकट करते हैं।"

सन्त के लिये कोई भी त्याग दुष्कर नही है, बशर्ते वह परोपकार साधन करता हो। महान भक्त प्रह्लाद ने अपने को पीड़ा पहुँचानेवालों के कल्याण हेतु भी प्रार्थना की थी। भगवान द्वारा वर माँगने को कहने पर उन्होंने उत्तर दिया —

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं ना पुनर्भवम् ।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम् ।।

— "प्रभो, मैं न तो राज्य चाहता हूँ, न जागतिक सुख, और न ही आवागमन के बन्धन से छुटकारा पाने की कामना करता हूँ। मेरी तो एकमात्र इच्छा यही है कि दुखों की ज्वाला से दग्ध जीवों के कष्ट दूर हो जायँ।

महापुरुषों का कल्याण भी अन्य जीवों के हित में ही निहित हैं, क्योंकि वे ईश्वर की प्रतिमूर्ति रूपी विराट् मानव-परिवार के सदस्य हैं। महाभारत के अनुसार — "केवल वही धर्म का ज्ञाता है, जो सर्वजीवों का मित्र है तथा जो मन, वचन तथा कर्म से सदैव सबके कल्याण में रत है"

फिर विष्णुपुराण में भी ये ही विचार व्यक्त किये गये है, परन्तु वहाँ यह घोषणा भी की गयी है कि सर्वोच्च ज्ञान से ही प्रेम का जन्म होता है — "सभी जीवों ईश्वर की ही अभिव्यक्तिं जानकर ज्ञानी व्यक्ति विना अपवाद सबसे प्रेम करते हैं।"

वस्तुतः सारे पुराण एक स्वर में घोषणा करते हैं —

परोपकारः पुण्याय पापाय परपीड़नम् ।

— "परोपकार ही धर्म है तथा परपीड़न ही पाप है।"

समस्त जीवों के प्रति यह प्रेम या परोपकार का भाव, आध्यात्मिक महानता का विशेष लक्षण है, जैसा कि श्री शंकराचार्य इंगित करते हैं —

शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तो वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः ।
तीर्णाः स्वयं भीमभवार्णवं जनानहेतुनान्यानपि तारयन्तः ।।

— "शान्त तथा विशाल हृदयवाले महापुरुषगण वसन्त ऋतु के समान दूसरों के कल्याण में निरत रहते हैं और स्वयं इस भयावह जीवन-मृत्यु के चक्ररूपी महासागर को पार कर लेने के बाद, अहेतुक रूप से, अन्यों को भी इसे पार करने में सहायता करते रहते हैं।

स्वार्थपूर्ण जीवन का अर्थ आध्यात्मिक मृत्यु ही है। इसीलिये सच्चा भक्त ईश्वर से प्रार्थना में न सिर्फ मन को शान्त करने व इन्द्रियों को चंचलता समाप्त करने के लिए प्रार्थना करता है, अपितु सर्वभूतों के प्रति प्रेम के रूप में वह अपनी आत्मा के विस्तार के लिए भी याचना करता है —

अविनयमपनय विष्णो दमय मनः शमय विषयमृगतृष्णाम् ।
भूतदयां विस्तारय तारय संसार सागरतः ।। विष्णुषट्पदी, १

— "हे विष्णु, मेरी उद्धतता को दूर करो, मन को संयत तथा विषय-भोगों की मृगतृष्णा के प्रति शान्त करो, सर्व जीवों के प्रति मेरी सहानुभुति को बढ़ाओ और

संसार सागर से मेरा उद्धार करो।"

प्रेम तथा करुणा के प्राचीन आदर्श हमें अपने धार्मिक अनुष्ठानों तथा उत्सवों की परम्परा के माध्यम से प्राप्त हुए हैं, जिनमें दान का विशेष स्थान है। विशेष रूप से हमारे श्राद्ध तथा तर्पण के अनुष्ठानों में व्यक्त हुआ है, जिसमें अपने दिवंगत सम्बन्धियों के साथ-ही-साथ समस्त जीवों की शान्ति के लिए भी पिण्डदान किया जाता है। और हमें निम्नलिखित श्लोक की आवृति करनी पड़ती है —

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं देवर्षिपितृमानवाः ।
तृप्यन्तु पितरः सर्वे मातृमातामहादयः ।।

— "समस्त देवता, ऋषि, पितरगण तथा मनुष्य, हमारी माता व पिता के कुल के सभी लोग और ब्रह्मा से लेकर तृण तक समस्त जीव तृप्त हों।"

फिर हमारी सेवामूलक संस्थाओं में यह आदर्श व्यक्त होता है। सम्पूर्ण देश में बिखरे हुए असंख्य छत्र तथा धर्मशालाएँ आज भी, बहुधा बिना किसी भेदभाव के, साधु-संन्यासियों, यात्रियों तथा भिक्षुकों को निःशुल्क आवास तथा भोजन प्रदान करती हैं। प्रायः व्यक्तिगत रूप से और कभी-कभी संगठित रूप से आज भी दान हमारे सार्वजनिक जीवन का एक विशेष अंग बना हुआ है।

रामकृष्ण मिशन की स्थापना करते समय स्वामी विवेकानन्द ने विवेकयुक्त तथा संगठित सेवा का आदर्श राष्ट्र के समक्ष रखा। परन्तु उनका वैशिष्ट्य इस बात में है कि वे अपने गुरुदेव का अनुसरण करते हुए, दया और सेवा के आदर्शों को उसकी चरम परिणति तक ले गये। उन्होंने सेवा के क्षेत्र में धर्म तथा जाति पर आधारित अमानवीय भेदों को समाप्त कर दिया। फिर उन्होंने यह भी अनुभव किया कि मानवता के दृष्टिकोण से बाकी लोगों की तुलना में निर्धन तथा अशिक्षितों को सेवा की अविलम्ब आवश्यकता है। उनका हृदय दलितों तथा पतितों के प्रति करुणा से अभिभूत हो उठा था। और उन्होंने आवेशयुक्त स्वर में इस देश के नवयुवकों का आह्वान किया — "हे युवको, निर्धनों, अशिशितों तथा उत्पीड़ितों के प्रति अपनी सहानुभूति और प्राणपण प्रयत्न को मैं तुम्हें थाती के रूप में सौंपता हूँ। ... और प्रतिज्ञा करो कि तुम अपना सारा जीवन इन्हीं करोड़ों लोगों के उद्धार में लगा दोगे, जो दिन-प्रतिदिन अवनति के गर्त में डूबते जा रहे हैं। ... तुमने पढ़ा है — 'मातृदेवो भव। पितृदेवो भव।' मैं कहता हूँ — 'दरिद्रदेवो भव, मूर्खदेवो भव।' — निर्धन, अशिक्षित, अपढ़ और पतित ही ईश्वर हों। इनकी सेवा करना

ही सर्वोच्च धर्म है।" सेवा का यह आदर्श न केवल प्रत्येक सच्चे धार्मिक हिन्दू के दैनन्दिन व्यवहार के नियमों के अविरुद्ध है; अपितु उनके साथ पूर्ण सामंजस्य में है। यह उच्च वर्ण के हिन्दुओं के लिये शास्त्रों द्वारा अनुमोदित उन पाँच महायज्ञों का ही विस्तृत रूपायन है, जो इस प्रकार हैं — ब्रह्मयज्ञ : शास्त्रों का अध्ययन करना, देवयज्ञ : देवताओं की आहुतियाँ देना, पितृयज्ञ : पितरों को पिण्डदान करना, नृयज्ञ : मनुष्यों को भोजन देना और भूतयज्ञ : निम्नतर जीवों को भी भोजन प्रदान करना। ऊँच-नीच के भेदभाव से रहित होकर, सभी मनुष्यों की भौतिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक सेवा करना — 'नृयज्ञ' का ही व्यावहारिक प्रयोग है, जिसका शाब्दिक अर्थ है — 'मनुष्यों को आहुति देना।' दान, सेवा आदि धार्मिक कर्मों के माध्यम से अभिव्यक्त होनेवाले इस दया तथा परोपकार के आदर्श की ही वर्तमान युग को अविलम्ब आवश्यकता है। महर्षि मनु ने घोषणा की है —

तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते ।
द्वापरे यज्ञमेवाहुः दानमेकं कलौ युगे ।। १/८६

— "सत्ययुग में तप, त्रेता में ज्ञान, द्वापर में यज्ञ व कलियुग में दान ही विशेष रूप से अनुष्ठेय है।"

हमारा यह अन्धकारमय कलियुग स्वर्णयुग में परिवर्तित हो सकता है, बशर्ते हम श्रीरामकृष्ण तथा स्वामी विवेकानन्द के पदचिह्नों पर चलते हुए, सभी प्रकार के सेवा कार्य में लगे रहें — चाहे वह भौतिक-आपदा के समय राहतकार्य हो या संसारोपयोगी शिक्षादान हो अथवा आध्यात्मिक उपदेश रूपी सेवा हो — और इन कार्यों को हम सेवा व ईश्वरोपासना के भाव से करें, जिसे उपनिषद् के ऋषि ने निम्नलिखित (श्वेता. ४/५) प्रेरणादायी शब्दों में व्यक्त किया है —

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी ।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ।।

— "तुम्हीं पुरुष हो, तुम्हीं स्त्री हो, तुम्हीं युवा हो, तुम्हीं युवती हो, तुम्हीं वृद्ध के रूप में दण्ड की सहायता से चलायमान हो और तुम्हीं समस्त रूपों में जन्म लेते हो।

हम सभी निरन्तर 'मनुष्य में विराजमान ईश्वर की सेवा' के इस महान आदर्श को रूपायित करने का प्रयत्न करें और इस प्रकार स्वयं तथा सम्पूर्ण विश्व को धन्य तथा कृतकृत्य करें।

□

रामकृष्ण मिशन की प्रारम्भिक बैठकें

(सौ वर्ष पूर्व कलकत्ते में स्थित बलराम बोस के निवास पर आहूत एक सभा में स्वामी विवेकानन्द ने 'रामकृष्ण मिशन समिति' के स्थापना की। उसके चार दिन बाद एक अन्य सभा में उसके आदर्श, उद्देश्यों तथा कार्यप्रणाली का निर्धारण किया गया। उसके बाद उसी स्थान पर प्रति सप्ताह उसकी बैठकें होती रहीं, जिसकी संक्षिप्त विवरण एक रजिस्टर में लिख लिया जाता था। हालीवुड (अमेरिका) से निकलनेवाली संघ की अंग्रेजी द्विमासिक पत्रिका 'वेदान्त एण्ड द वेस्ट' के १९६७ ई. के कई अंकों में ये विवरण धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुए थे। उन्हीं विवरणों के चुने हुए अंशों का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत है। सं०)

पहली बैठक (मई १, १८९७)

कलकत्ते के ५७ रमाकान्त बोस स्ट्रीट पर स्थित स्व. बलराम बोस के निवास पर १ मई १८९७ के दिन संध्या के समय स्वामी विवेकानन्द के आह्वान पर श्रीरामकृष्ण के गृही शिष्यों तथा अनुरागियों की एक सभा आयोजित हुई। आलमबाजार मठ के अनेक संन्यासी भी इसमें उपस्थित हुए थे। श्रीरामकृष्ण के विचारों, उपदेशों तथा सिद्धान्तों के प्रचार के महत् कार्य तथा इनकी सतत वर्धमान लोकप्रियता को देखते हुये एक समिति की स्थापना की आवश्यकता व्यक्त की गयी। कलकत्ते में भी एक ऐसे स्थानीय केन्द्र की स्थापना का सुझाव रखा गया, जहाँ सभी लोग नियमित रूप से विचारों के आदान-प्रदान तथा उनके प्रचार-प्रसार के समन्वय हेतु एकत्र हो सकें तथा भारत के विभिन्न अंचलों, अमेरिका और इंग्लैण्ड आदि के अन्य केन्द्रों से विचार-विनिमय के द्वारा निरन्तर सम्पर्क रखा जा सके।

उपस्थित लोगों में से एक कार्यकारी समिति बनायी गयी तथा मकान के किराये तथा अन्य आवश्यक खर्च चलाने हेतु अर्थसंग्रह के लिये दानदाताओं की एक सूची भी बनायी गयी। फिलहाल श्री गिरीशचन्द्र घोष के निवास पर प्रति सप्ताह बैठक बुलाने का निर्णय लिया गया। सभा में लगभग चालीस सदस्य उपस्थित थे।

दूसरी बैठक (५ मई, १८९७)

(इस बैठक में मिशन के लक्ष्य तथा आदर्श निर्धारित किये गये, जिसका सविस्तार विवरण सम्पादकीय प्रबन्ध में दिया जा चुका है। - सं.)

तीसरी बैठक (९ मई, १८९७)

यह सभा स्वामी ब्रह्मानन्द की अध्यक्षता में सम्पन्न हुई, जिसमें लगभग तीस सदस्य तथा कुछ बाहर के लोग भी उपस्थित थे।

स्वामी त्रिगुणातीत ने गीता के कुछ श्लोकों का पाठ तथा व्याख्या की, जिसमें उन्होंने श्रीकृष्ण द्वारा प्रतिपादित कर्म की उपयोगिता बताते हुए श्रीरामकृष्ण के उपदेशों के द्वारा उनका निदर्शन प्रस्तुत किया।

इसके उपरान्त गिरीशचन्द्र घोष ने श्रीरामकृष्ण के साथ अपनी प्रथम भेंट के समय से ही प्राप्त हुए अनुभवों पर चर्चा की। उन्होंने बताया कि श्रीरामकृष्ण से उनकी पहली मुलाकात बोसपाड़ा के स्व. श्री दीनानाथ बोस के मकान पर हुई थी, जहाँ श्री केशवचन्द्र सेन भी उपस्थित थे। उन्होंने कहा कि उस बार उनके मन में (श्रीरामकृष्ण के विषय में) कोई अच्छी धारणा नहीं बनी थी।

कुछ काल बाद, स्टार थियेटर में चैतन्यदेव की जीवनी पर आधारित अपने एक नाटक के मंचन के अवसर पर एक दिन जब वे अपने कक्ष में बैठे थे, तभी वहाँ स्व. श्री महेन्द्रनाथ मुखर्जी पधारे। उनकेसाथ श्रीरामकृष्ण भी नाटक देखने आये थे। गिरीश ने आगे कहा कि जब वे परमहंसदेव को नमस्कार करने की सोच ही रहे थे, तो उसके पूर्व ही श्रीरामकृष्ण ने उन्हें प्रणाम किया। गिरीश द्वारा प्रणाम करने का वारम्बार प्रयास किये जाने पर भी, प्रत्येक बार वे श्रीरामकृष्ण के प्रणाम द्वारा बाधित हो गये और अन्त तक वे एक बार भी प्रणाम न कर सके। हारकर उन्होंने श्री महेन्द्रनाथ से श्रीरामकृष्ण को उनकी सीट की ओर ले जाने को कहा और एक सेवक को उन्हें पंखा झलने की आज्ञा दी।

इस घटना के कुछ दिनों बाद एक बार जब वे बोसपाड़ा लेन के पास बैठे थे, तभी उन्होंने देखा कि श्रीरामकृष्णदेव कुछ नवयुवकों के साथ उसी ओर आ रहे हैं। गिरीश को देखकर श्रीरामकृष्ण ने उन्हें प्रणाम किया और बलराम-भवन की ओर चले गये। गिरीश ने बताया कि उनके मन में तत्काल श्रीरामकृष्ण का अनुगमन करने की तीव्र इच्छा हुई, परन्तु किसी अपरिचित के निवास पर बिना बुलाये प्रवेश करने को असौजन्यता मान लिये जाने की सम्भावना ने उन्हें रोक लिया। जब वे बैठे ऐसा सोच-विचार कर रहे थे, तभी एक बालक ने आकर उनसे कहा कि श्रीरामकृष्ण उनसे मिलना चाहते हैं। इस पर वे बलराम के मकान में गये और प्रणाम आदि के पश्चात् — जो इस बार भी श्रीरामकृष्ण ने ही प्रारम्भ किया था — उनकी श्रीरामकृष्ण से वार्तालाप हुई। श्रीरामकृष्ण ने गिरीश के द्वारा रचित 'चैतन्यलीला' नाटक के लिये उनकी प्रशंसा की और कहा कि गिरीश का मन अब मलिनताओं से मुक्त हो गया है और अब उसमें अव भक्तिदेवी का राज्य है, आदि

आदि। प्रत्युत्तर में गिरीश ने कहा कि उनमें ये सारे गुण बिल्कुल भी नहीं है तथा उनकी इन रचनाओं का एकमात्र उद्देश्य अर्थोपार्जन ही है। गिरीश ने बताया कि इसके उपरान्त उन्होंने श्रीरामकृष्ण से 'गुरु' शब्द का अर्थ जानने की इच्छा प्रकट की, जिसके उत्तर में श्रीरामकृष्ण ने कहा कि गुरु मानो एक 'मध्यस्थ' है।

एक अन्य समय उन्हें सूचना मिली कि रामचन्द्र दत्त अपने निवास पर श्रीरामकृष्ण का अभिनन्दन करनेवाले हैं। गिरीश भी वहाँ जा पहुँचे और देखा कि श्रीरामकृष्ण के चारों ओर भक्तों का विशाल समुदाय एकत्र है और वे दिव्य भाव डूबे नृत्य करते हुए भजन गा कर रहे हैं। गिरीश को लगा मानो ऐसा नृत्य उन्होंने इसके पहले कभी नहीं देखा। यद्यपि उन्होंने अपने जीवनकाल में अनेक प्रसिद्ध तथा चोटी के नर्तकों तथा नर्तकियों के कार्यक्रम देखे थे, पर उस समय उन्हें ऐसा लगा कि यह उन सबसे कहीं अधिक विलक्षण तथा अद्‌भुत नृत्य का अवलोकन कर रहे हैं, श्रीरामकृष्ण के समीपस्थ भक्त उनकी चरणरज ले रहे थे। गिरीश ने मन-ही-मन सोचा, "क्या मैं ही इस पवित्रधूलि से वंचित रह जाऊँगा?" और जैसे ही यह विचार उनके मन में आया कि श्रीरामकृष्ण नृत्य करते हुए उनके सम्मुख आ पहुँचे और उन्होंने अपनी हार्दिक मनोकामना पूरी की।

भजन आदि समाप्त हो जाने के पश्चात् श्रीरामकृष्ण ने गिरीश से बातें की। उन्होंने कहा कि गिरीश के मन में एक विशेष प्रकार की 'वक्रता' है।

गिरीश ने पूछा, "क्या यह वक्रता सीधी हो सकेगी?"

श्रीरामकृष्ण ने कहा, "अवश्य होगी।"

गिरीश के बारम्बार यही प्रश्न करने पर, श्रीरामकृष्ण ने प्रत्येक बार एक ही उत्तर दिया। उनके इस अविश्वास पर मनोमोहन मित्र ने उनकी भर्त्सना की। यद्यपि ऐसे अवसरों पर वे कटु उत्तर देने में शायद ही चूकते थे, तथापि इस बार फटकार सुनकर भी शान्त रहे और उन्हें लगा कि मनोमोहन ठीक ही कह रहे हैं।

गिरीश ने बताया कि एक रात वे अपने दो मित्रों के साथ किसी वारांगना के घर जा रहे थे, तभी सहसा उनके मन में दक्षिणेश्वर जाने की प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई। इस पर उन्होंने अपने मित्रों से विदा ली और ताँगा कर लिया। ताँगा यद्यपि काफी तीव्र गति से चल रहा था, तथापि गिरीश ने गाड़ीवान से और भी अधिक वेग से चलने को कहा। रात काफी गहरी हो चुकी थी और प्रायः सभी लोग निद्रामग्न थे। जब ये तीनों नशे में धुत श्रीरामकृष्ण के कक्ष में प्रविष्ट हुए, तो

उन्होंने गिरीश का बड़े ही अद्‌भुत ढंग से स्वागत किया। श्रीरामकृष्ण ने गिरीश के हाथ पकड़कर आनन्दपूर्वक नृत्य तथा गाना आरम्भ कर दिया। गिरीश के मस्तिष्क में अचानक ही यह विचार आया कि ये सचमुच ही एक असाधारण तथा विलक्षण व्यक्ति हैं, नहीं तो उनके समान एक पतित आदमी का कौन भला इस प्रकार स्वागत कर सकता है! ऐमी अवस्था में तो स्वयं उनके माता-पिता भी उनका तिरस्कार ही करते। परन्तु यहाँ एक ऐसे महापुरुष हैं, जिनकी सैकड़ों लोग एक सन्त के रूप में पूजा करते हैं, और उन्होंने उन्हें इस तरह प्रेम तथा स्वागत के योग्य समझा। गिरीश ने मन ही मन सोचा कि दुनिया में यदि कोई पापियों तथा दुराचारियों को पावन करनेवाला है, तो वे ये ही हैं।

एक अन्य समय श्रीरामकृष्ण उन्हें काली मन्दिर में ले गये और वहाँ उन्होंने माँ के भजन गाये। गिरीश ने मन-ही-मन ने विचार किया कि इस व्यक्त में चाहे जितनी त्रुटियाँ क्यों न हों, परन्तु पूरे संसार को जिस लोकप्रियता की तीव्र आकांक्षा रहती है, उससे ये पूर्णतः घृणा करते हैं। श्रीरामकृष्ण ने उन्हें कहा कि उनके लिये इस संसार में कुछ कार्य हैं।

गिरीश ने यह भी कहा कि अब जबकि स्वामी विवेकानन्द के नेतृत्व में एक महान आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ है, उन्हें पूरी आशा हैं कि स्वामीजी की चरणस्पर्श से धन्य होनेवाले प्रत्येक व्यक्ति के समक्ष एक महान कार्य उपस्थित है और वह शीघ्र ही श्रीरामकृष्ण के द्वारा उसमें नियुक्त किया जायगा।

इसके उपरान्त नित्यगोपाल गोस्वामी ने श्रीरामकृष्ण-विषयक कुछ भजन गाये।

चौथी बैठक (१६ मई, १८९७)

स्वामी ब्रह्मानन्द ने अध्यक्षता की। पचास से अधिक सदस्य उपस्थित थे। शरत्‌चन्द्र चक्रवर्ती ने कठोपनिषद् के कुछ अंशों का पाठ तथा व्याख्या की और वताया कि श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, "अद्वैतज्ञान को आँचल में बाँधकर जो मन में आये, करो।" उनका तात्पर्य यह था कि धार्मिक या सामाजिक जीवन की प्रथम आवश्यकता ब्रह्मज्ञान है। अन्यान्य लक्ष्यों की पूर्ति के पूर्व इसकी प्राप्ति अभीष्ट है।

मनोमोहन मित्र ने श्रीरामकृष्ण से अपनी भेंट तथा अनुभवों का वर्णन किया। उन्होंने कहा कि पहली बार केशवचन्द्र सेन द्वारा प्रकाशित (सुलभ समाचार) पत्रिका में श्रीरामकृष्ण के नाम का उल्लेख पढ़ने के बाद ही १८७६ ई. में उन्हें सर्वप्रथम

उनके विषय में जानकारी मिली। लगभग चार वर्ष बाद एक रात सपने में उन्होंने देखा कि पूरी पृथ्वी एक भयंकर बाढ़ से आप्लावित हो गयी है और सब कुछ उसी में जलमग्न हो गया है। उसी धारा में वे लकड़ी के एक छोटे-से टुकड़े को पकड़कर छाती से लगाये हुए तैर रहे थे। एक सेतु के नीचे उन्होंने थोड़ा विश्राम किया। सहसा उनके मुख से निकल पड़ा, "क्या इस सम्पूर्ण विश्व में कोई भी नहीं बचा?"

उत्तर मिला, "कोई भी नहीं।"

वे चिल्लाये, "तो क्या मेरी पत्नी, माता, पुत्रियाँ — सभी मर चुके हैं?"

"सभी मृत हो चुके हैं।"

"क्या कोई भी जीवित नहीं बचा?"

उत्तर मिला, "ईश्वर में विश्वास करनेवालों को छोड़ कोई नहीं।"

उन्होंने बताया कि उसी क्षण वे जोरों से चीखे, जिसे सुनकर उनकी पत्नी तथा माता दोनों जाग उठे और इसका कारण पूछा। मनोमोहन ने कहा 'आप कौन हैं? मेरी माता और पत्नी की तो मृत्यु हो चुकी है।" इस स्वप्न का उन पर गहरा प्रभाव हुआ। अगले दिन रामचन्द्र दत्त के आने पर मनमोहन ने उन्हें पिछली रात की घटना बतायी। इस पर रामचन्द्र ने उन्हें दक्षिणेश्वर जाकर श्रीरामकृष्ण से भेंट करने की सलाह दी। मनोमोहन के मन में भी कुछ समय से ऐसी ही इच्छा हो रही थी।

दक्षिणेश्वर पहुँच कर वे वहाँ के उद्यान में किसी जटाधारी भस्ममण्डित साधु के दर्शन की कल्पना लिये हुये भ्रमण करने लगे। आखिरकार उन्हें श्रीरामकृष्ण का कमरा बताया गया। कमरे का द्वार बन्द था और बरामदे में कुछ सिपाही बैठे हुए थे। द्वार खटखटाने पर कुण्डी हटी और एक अर्द्धनग्न व्यक्ति ने बाहर आकर अत्यन्त आनन्दपूर्वक उनका स्वागत करते हुए भीतर आने का आमंत्रण दिया। उस व्यक्ति ने उनसे पूछा, "आप लोग कहाँ से आये हैं?" यह ज्ञात होने पर की रामचन्द्र दत्त एक चिकित्सक हैं, उन्होंने भीतर लेटे तेज बुखार से पीड़ित एक व्यक्ति को देखने का अनुरोध किया। उस दिन के बाद से मनोमोहन प्रायः ही श्रीरामकृष्ण से मिलने जाने लगे। एक अन्य दिन उनकी दक्षिणेश्वर जाने की तीव्र इच्छा हुई, परन्तु आकाश में घने बादल छाये थे और रात गहरी भी हो चली थी। नदी में उत्ताल तरंगें उठ रही थीं, इसके बावजूद किराये पर एक नाव लेकर वे चल दिये। वहाँ पहुँचने पर श्रीरामकृष्ण ने अश्रुपूरित नेत्रों से कहा, "तुमने मुझसे भेंट करने के लिये नाहक ही अपने प्राण संकट में डाले!" इस घटना के बाद से वे जब भी

वहाँ गये, तो उन्होंने पाया कि श्रीरामकृष्ण उनके लिये जलपान का प्रबन्ध करते हैं। वे दक्षिणेश्वर में अपना समय अत्यन्त आनन्दपूर्वक व्यतीत करते थे। प्रत्येक रविवार को वे उन महापुरुष के सान्निध्य में घण्टों समय व्यतीत करते, जिनके संग मात्र से समस्त चिन्ताएँ व दुःख दूर हो जाते थे और खाने को उत्तम सामग्री भी मिलती थी। एक रविवार जब वे वहाँ गये, तो श्रीरामकृष्ण ने प्रश्न किया "क्या तुम लोगों ने भोजन कर लिया है?" इस स्थान पर मुख्यतः भिखारियों के लिए ही भोजन की व्यवस्था है। अतः तुम लोगों का यहाँ अन्न ग्रहण करना उचित नहीं।"

एक बार मनोमोहन ने पूरी रात दक्षिणेश्वर में ही बितायी। काफी देर बाद श्रीरामकृष्ण ने उनसे पूछा, "तुम क्या चाहते हो?"

मनमोहन ने उत्तर दिया, "मैं आपके साथ ही रहना चाहता हूँ, घर लौटना नहीं चाहता।"

श्रीरामकृष्ण ने कहा, "यह उचित नहीं होगा। यदि बड़ी मछली को मार डालो, तो छोटी मछलियाँ अपने आप ही मर जायेंगी। यदि तुमने घर छोड़ा, तो फिर तुम्हारे परिवार का भरण-पोषण कौन करेगा?"

मनोमोहन को पातगोभी अत्यन्त प्रिय थी, अतः वे एक बार एक बड़ी गोभी लेकर श्रीरामकृष्ण से भेंट करने गये। श्रीरामकृष्ण ने कहा, "यह तुमने अच्छा किया, परन्तु जो गोभी तुम मेरे लिए लाये हो, इसे 'हृदय' को मत दिखाना। वह मुझे लेने नहीं देगा।" तदनुसार गोभी को यथास्थान रख दिया गया। परन्तु हृदयराम ने जैसे ही कमरे में प्रवेश किया, श्रीरामकृष्ण कह उठे, "सच कहता हूँ, हृदय! मैंने इन लोगों से गोभी लाने को नहीं कहा था। ये लोग उसे स्वयं ही लाये हैं।"

भजन के साथ इस बैठक की समाप्ति हुई।

पाँचवीं बैठक (२३ मई, १८९७)

स्वामी ब्रह्मानन्द ने अध्यक्षता की। लगभग पचास सदस्य उपस्थित थे। प्रियनाथ मुखर्जी ने कठोपनिषद् से कुछ श्लोकों का पाठ और उनकी व्याख्या की। इसके उपरान्त चारुचन्द्र वसु ने बुद्ध के जन्म व त्याग के विषय में एक लेख पढ़ा। फिर नित्यगोपाल गोस्वामी ने श्रीरामकृष्ण के विषय में अपने संस्मरणों का वर्णन करते हुए कहा —

"मैं ब्राह्म समाज का सदस्य था, परन्तु इससे मुझे कोई आध्यात्मिक लाभ नहीं हुआ। बाद में मैं थियोसॉफिकल सोसायटी का सदस्य बना तथा इस सम्बन्ध से मुझे

अवश्य ही कुछ लाभ हुआ। इसी दौरान मैं सांख्य तथा योगदर्शन का अध्ययन भी कर रहा था।

"इन्हीं दिनों मेरा ढाका (अब बंगलादेश में) जाना हुआ और यहाँ मेरी विजयकृष्ण गोस्वामी से भेंट हुई। उन दिनों मैं गम्भीर आर्थिक समस्या से ग्रस्त था तथा मेरा चित्त भी प्रायः अशान्त रहा करता था। विजय गोस्वामी के साथ मेरी लम्बी चर्चा हुई और उन्हीं से मुझे श्रीरामकृष्ण के विषय में जानकारी मिली।

"कलकत्ता लौटने के बाद मैंने दक्षिणेश्वर जाकर श्रीरामकृष्ण से भेंट की। जब मैं उनका दर्शन करने गया, उस समय वे बिस्तर पर लेटे थे। उन्होंने मुझे निकट बुलाया तथा अपने पाँव दबाने का आदेश दिया और वार्तालाप दौरान कहा, "गुरु के बिना, कुछ भी सम्भव नहीं है। देखा न, विजय (गोस्वामी) को कैसी शान्ति प्राप्त हुई है। योगाभ्यास की क्या आवश्यकता है? यदि तुमने गुरु किया, तो सब चुटकियों में हल हो जायगा।

"उन्होंने अपने चरण मेरे सीने पर रख दिये और मैं उनकी चरण सेवा में लगा रहा। उन्होंने पुनः कहा, 'सभी कुछ सहज ही हो जायगा; क्या कोई जगदम्बा की उपेक्षा कर सकता है?'

"इसके उपरान्त उन्होने मुझसे मंगल व शनिवारों के दिन आने को कहा। एक शुक्रवार की रात मुझे भयानक बुखार आया और लगा कि अगले दिन शायद मैं उनसे भेंट करने नहीं जा सकूँगा। परन्तु मेरे मन में उनके दर्शन की आकांक्षा इतनी प्रबल थी कि मैंने बलपूर्वक उठकर स्नान किया तथा उनसे भेंट करने चला गया।

"एकान्त में मैंने उनसे कहा कि मुझसे कोई साधना नहीं होगी और ऐसा प्रतीत होता है कि मुझमें इसके लिये आवश्यक सामर्थ्य नहीं है। उन्होंने बड़े ही मृदु भाव से मेरे सीने पर हाथ रख कर कहा, "तुम्हें कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं है। मैं तुममें हूँ और तुम मुझमें हो।

"मेरा फिर ढाका जाना हुआ। मैं इस पर अत्यन्त दुःखी था। वहाँ नगर के बाहरी अचल में एक जंगल जैसा था, जिसे प्रायः श्मशान के रूप में प्रयोग किया जाता था। वहीं मैंने बड़े विस्मयपूर्वक देखा मानो दूर कोई धरती पर बैठा है। मैंने उस व्यक्ति के समीप जाकर पूछा, 'आप यहाँ क्या कर रहे हैं?' उसने कहा कि वह मुझसे कुछ बताना चाहता है। यद्यपि उसने थोड़ा-सा ही कुछ कहा, पर उसके शब्दों ने मेरी निराशा तथा संशय को पूर्णतः नष्ट कर दिया।

"वह उठकर दूर जाने लगा। फिर उसने धीरे से मुड़कर मेरी और देखते हुए स्नेहयुक्त वाणी में कहा, 'प्रिय नित्यगोपाल, जिनका तुमने आश्रय लिया है, उन्हें छूटने मत देना।' इसके बाद मैंने उस व्यक्ति को फिर कभी नहीं देखा। मैंने विजय से इस विषय में चर्चा की, तो पता चला कि उन्होंने भी इसी व्यक्ति को जंगल में देखा था। उस रात मुझे एक अद्‌भुत स्वप्न दिखा, जिसमें मैं उन्हीं दिव्य महापुरुष से बातें करते हुए उनकी विलक्षण वाणी सुन रहा था। इससे मुझे एक अवर्णनीय आनन्द का अनुभव हुआ।"

मन्मथनाथ ने कुछ भजन गाये और सभा विसर्जित हुई।

छठवीं बैठक (३० मई, १८९७)

स्वामी ब्रह्मानन्द ने अध्यक्षता की। लगभग साठ सदस्य उपस्थित थे। डॉ. प्रियनाथ मुखर्जी ने 'देवी-माहात्म्य' से कुछ स्तोत्रों का पाठ किया। स्वामी त्रिगुणातीत ने ऋग्वेद से पुरुषसूक्त का पाठ तथा व्याख्या की और उन्होंने वैदिक साहित्य के विभिन्न शाखाओं की संक्षिप्त रूपरेखा दी।

इसके पश्चात् गिरीन्द्रनाथ मित्र ने श्रीरामकृष्ण के साथ अपने परिचय तथा सम्बन्धों का विवरण देते हुए कहा —

"१८८१ ई. के शीतकाल में उनके ज्येष्ठ भ्राता सुरेन्द्र ने श्रीरामकृष्ण के दर्शन किये। श्रीरामकृष्ण ने सुरेन्द्र से बिल्ली के बच्चे का भाव अपनाने को कहा। (उसकी माँ जहाँ कहीं भी रख देती है, वह वहीं पर प्रसन्नपूर्वक रहता है और अपनी सुरक्षा के लिये पूर्णतया माँ पर ही निर्भर रहता है।) इस उपदेश से सुरेन्द्र के जीवन में अत्यन्त लाभकारी परिवर्तन आया।"

इसके पश्चात् एक बार वे स्वयं भी सुरेन्द्र के साथ श्रीरामकृष्ण का दर्शन करने गये। अपनी प्रथम भेंट के समय गिरीन्द्र ने श्रीरामकृष्ण से सुना था, "पांकाल मछली कीचड़ में रहती है, परन्तु कीचड़ कभी उसके शरीर में लिप्त नहीं होता।" जैसे ही गिरीन्द्र ने श्रीरामकृष्ण को देखा, उन्हें ऐसा लगा मानो वे एक ही आधार में शंकराचार्य, बुद्ध तथा चैतन्यदेव को देख रहे हों।

सातवीं बैठक (६ जून, १८९७)

स्वामी ब्रह्मानन्द ने अध्यक्षता की। लगभग साठ सदस्यों की उपस्थित थे। स्वामी तुरीयानन्द ने श्रीरामकृष्ण के एक स्तोत्र का पाठ किया। तदुपरान्त उन्होंने केनोपनिषद् के कुछ मंत्रों की व्याख्या की।

गिरीशचन्द्र घोष ने स्वामी विवेकानन्द के कार्य के सम्बन्ध में एक व्याख्यान देते हुए इस तथ्य को रेखांकित किया कि स्वामीजी व्यक्तिगत श्रेय पाने की कामना को छोड़कर किस प्रकार श्रीरामकृष्ण के उपदेशों का प्रचार कर रहे हैं।

उन्होंने आगे कहा – "आप सभी स्वामी विवेकानन्द के कर्मठ सन्देश से परिचित हैं। वे सर्वत्र श्रीरामकृष्ण के उपदेशों का प्रचार-प्रसार कर रहे हैं। स्वामीजी ने एक दिन कहा था, "जो कोई भी मेरे ठाकुर का नाम लेता है, उसे मृत्यु से डरने की कोई आवश्यकता नहीं।

"वे चाहते है कि श्रीरामकृष्ण के शिष्य पूर्णतः पवित्र रहें। अपने विश्वभ्रमण के पूर्व उन्होंने बारम्बार मुझे प्रणाम किया और अपने हृदय की अभिलाषा की पूर्ति के लिए आर्शीवाद माँगी, क्योंकि वे मुझे ठाकुर की एक प्रिय सन्तान मानते थे।

"गीता में जब अर्जुन पर तमोगुण प्रबल हो गया था, तब श्रीकृष्ण ने उनके प्रति बारम्बार शक्तिदायी तथा प्रेरक वचन कहे। उसी प्रकार स्वामीजी ने अपने 'तत्त्वमसि' के सबल सन्देश के द्वारा तमोगुण से आच्छन्न लोगों में रजोगुण का सञ्चार किया।

"अपने 'भारत के महापुरुष' व्याख्यान में उन्होंने श्रीकृष्ण तथा गोपियों के दिव्य प्रेम की बड़ी प्रशंसा की है। इसके द्वारा स्वामीजी ने इसे भक्ति की सर्वोच्च अभिव्यक्ति के रूप में प्रस्तुत किया है।

"ठाकुर के शिष्यों के प्रति उनके अतिशय प्रेम को देखकर, हम श्रीरामकृष्ण के प्रति उनके अतुलनीय प्रेम तथा अनन्य श्रद्धा का अनुमान कर सकते हैं। एक बार उनका यही असीम प्रेम तब अभिव्यक्त हो उठा था, जब उन्होंने दार्जिलिंग के लिए प्रस्थान करने के पूर्व मुझसे कहा था, 'ठाकुर की सेवा के लिए मैं इसी क्षण अपने प्राण देने को तैयार हूँ।'

"अपनी वाणी तथा कर्म के द्वारा उन्होंने श्रीरामकृष्ण के उपदेशों का प्रचार करने की अथक चेष्टा की है, ताकि सम्पूर्ण जगत उनके उपदेशों से लाभान्वित हो सके। जो कोई भी स्वामी विवेकानन्द को श्रीरामकृष्ण से अलग या भिन्न मानता है, उसे मैं अज्ञानी समझता हूँ।"

इसके उपरान्त स्वामी ब्रह्मानन्द ने स्वामीजी द्वारा अल्मोड़ा से प्रेषित पत्र का पठन किया जिसमें उन्होंने मिशन के कार्यों की सफलता की कामना व्यक्त करते हुए कहा था कि भले ही वे स्थूल शरीर में वहाँ उपस्थित न हों, तथापि भावरूप से विद्यमान हैं।

आठवीं बैठक (१२ जून, १८९७)

स्वामी त्रिगुणातीत ने अध्यक्षता की। लगभग पच्चीस सदस्य उपस्थित थे। उन्होंने गीता के चौथे अध्याय से उस अंश का पाठ किया, जहाँ अवतारवाद पर चर्चा हुई है, इसके उपरान्त उन्होंने कर्म-सिद्धान्त की दार्शनिक विवेचना की। भूपेन्द्र कुमार वसु ने उन्हीं के द्वारा लिखित 'ज्ञान तथा भक्ति' विषयक एक अंग्रेजी लेख का पाठ किया। फिर हरमोहन मित्र ने श्रीरामकृष्ण के अपने संस्मरण सुनाये।

भजन के उपरान्त सभा स्थगित कर दी गयी।

नवीं बैठक (२० जून, १८९७)

स्वामी योगानन्द सभापति थे। सत्र के आरम्भ में श्रीरामकृष्ण के एक स्तोत्र का पाठ हुआ। इसके बाद (स्वामी विवेकानन्द के एक गृही शिष्य) श्री शरत्चन्द्र चक्रवर्ती ने मुण्डकोपरिषद् के कुछ अंशों का पाठ किया और उनकी इस प्रकार व्याख्या की –

मुण्डकोपनिषद अथर्ववेद की शाखा में आता है, जो कि अन्य वेद के अन्य हिस्सों की तुलना में अर्वाचीन है। 'अथर्ववेद' के ब्राह्मण भाग में बावन उपनिषद् उपलब्ध है, जिनमें से तीन में ब्रह्मज्ञान की मीमांसा की गयी है। इस उपनिषद् में दो प्रकार की विद्याओं का उल्लेख है – परा (आध्यात्मिक) तथा अपरा (जागतिक)। पुस्तकों तथा शास्त्रों द्वारा अर्जित ज्ञान को अपरा विद्या और ईश्वर की अनुभूति को परा विद्या बताया गया है।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।।३/१/१

– जीवात्मा तथा परमात्मा दो पक्षियों की भाँति एक ही वृक्ष बैठे हैं। इनमें से जीवात्मा रूपी पक्षी अपनी कामनाओं तथा पूर्वकर्मों का फल भोग करता रहता है, जबकि परमात्मा रूपी पक्षी न खाता हुआ साक्षी भाव से देखता रहता है। जीवात्मा माया के अधीन होकर ही दुःखों का भोग करता है।

परमात्मा हमारी अन्तरात्मा है, हमारा वास्तविक स्वरूप है। एक होते हुए भी, वह स्वयं को अनेक रूपों में व्यक्त करता है। इस सत्य को जानकर, विद्वान परमात्मा में ही रमण करते हैं। परमात्मा की अनुभूति से मनुष्य को आत्मा के स्वरूप, अस्तित्व, तपस्या, पवित्रता तथा संयम की भी उपलब्धि होती है।

ब्रह्म सर्वव्यापी तथा मन की समस्त कल्पनाओं के परे है। वह सूक्ष्मतम से भी

सूक्ष्म है, दूरतम से भी दूर है, तथापि निकटतम से भी निकट है। वह इन्द्रियग्राह्य विषयों से परे हैं तथा केवल शब्दों या शास्त्रज्ञान के द्वारा व्यक्त नहीं हो सकता। परन्तु पवित्र हृदयवाला अध्यावसायी साधक ब्रह्म के परम सत्य का साक्षात्कार करता है। ब्रह्म का ध्यान हमें कामनाओं के बन्धन से मुक्त करता है; ब्रह्मज्ञानी महापुरुषों की सेवा से हमें आध्यात्मिक ज्ञान या पराविद्या की उपलब्धि होती है।

श्री शशिभूषण घोष अगले वक्ता थे। उन्होंने शुकदेव के विषय में अपना संक्षिप्त आलेख पढ़ा, जो इस प्रकार है —

श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, "यदि तुम प्यासे हो, तो तालाब के स्वच्छ जल का पान कर लो, उसे हिला-डुलाकर गँदला मत करो।' इसी प्रकार की श्रीरामकृष्ण की अन्य उक्तियों का उल्लेख करते हुये वक्ता ने इस बात पर जोर दिया कि केवल शास्त्रपाठ साधकों के मन को और भी शंकाग्रस्त कर सकता है। शास्त्रों का अध्ययन पाण्डित्य से नहीं, अपितु श्रद्धा से प्रेरित होना चाहिए। (उनके वक्तव्य का सारांश इस प्रकार है) —

व्यासदेव (महाभारत के रचयिता) ने भगवान शिव से एक ऐसे पुत्र का वर माँगा, जो जन्म से ही आध्यात्म में प्रतिष्ठित हो। शिवजी के वरदान से व्यास को पुत्र के रूप में शुकदेव की प्राप्ति हुई। पिता की आज्ञा पाकर शुक ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने हेतु राजा जनक के पास गये। यद्यपि जनक क्षत्रिय थे और शुक ब्राह्मण, तथापि उस काल में ब्राह्मण द्वारा एक क्षत्रिय से आत्मविद्या प्राप्त करना अनुचित नहीं माना जाता था। स्वामी विवेकानन्द के मतानुसार पुराणों तथा अन्य हिन्दू शास्त्रों के सूक्ष्म अध्ययन ज्ञात होता है कि क्षत्रियगण ब्रह्मज्ञान प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील थे और ब्राह्मण कर्मकाण्डयुक्त यज्ञों का ज्ञान रखते थे।

शिक्षा प्राप्त करने के लिये शुक को राजा जनक के पास भेजने से पूर्व व्यास ने शुक को सिद्धियों की प्राप्ति से सावधान रहने को कहा था। ठाकुर भी कहते थे कि अलौकिक शक्तियाँ साधक के धर्मपथ में काँटों के समान बाधास्वरूप हैं।

राजा जनक ने भी विभिन्न प्रकार के सांसारिक सुखों का प्रलोभन देकर शुक की आध्यात्मिक योग्यता जाँच ली। इन परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने के उपरान्त शुक ने जनक से आत्मविद्या का उपदेश सुनकर आत्मज्ञान की उपलब्धि की।

दसवीं बैठक (२७ जून, १८९७)

यह सत्र स्वामी योगानन्द की अध्यक्षता में हुआ। स्वामी तुरीयानन्द द्वारा गीता

के पन्द्रहवें अध्याय के कुछ अंशों के पाठ हुआ। (तदुपरान्त महेन्द्रनाथ गुप्त 'म' ने अपने श्रीरामकृष्ण विषयक कुछ संस्मरण सुनाये, जो इस प्रकार हैं —)

"उस समय सुरेशचन्द्र मित्र के उद्यान-गृह में भजन गाये जा रहे थे। सुनते सुनते श्रीरामकृष्ण भाव समाधि में डूब गये। फिर सामान्य अवस्था में लौटते हुए उन्होंने कहा 'राधा तथा कृष्ण दैवी अवतार हैं। वैसे अवतारों की सत्यता पर अविश्वास करने में भी कोई विशेष हानि नहीं है। परन्तु चाहे कोई हिन्दू हो या ब्राह्म[1], ईश्वर से सम्पूर्ण मन व हृदय से प्रेम करना चाहिये। दिव्य भावोन्मादपूर्ण भक्ति के साथ ईश्वर से प्रेम करना चाहिये।'

"एक युवक की ओर इंगित करते हुये श्रीरामकृष्ण ने कहा, 'यह बड़ा सरल है। पूर्वजन्मों के संचित तपस्या के फल से ही मनुष्य वर्तमान जन्म में सरल हृदय होता है। (युवक की ओर उन्मुख होकर) सुना कि तुमने अपनी माता की देखभाल करने के हेतु नौकरी कर ली है। यदि तेरी ऐसी परिस्थिति न होती, तो मैं कहता कि ऐसी अधीनता स्वीकार करना स्वयं को अधोगामी करना है।

कलिकाल में निष्काम कर्म करना अत्यन्त कठिन है। इस काल के लिये नारदीय भक्ति ही उपयुक्त है। शुद्ध भाव से किया गया प्रत्येक कर्म मनुष्य को ईश्वरीय प्रेम की ओर ले जाता है। कर्म तो अनिवार्य है; परन्तु सांसारिक कार्यों में लिप्तता को धीरे-धीरे घटाना चाहिए। शम्भु (मलिक) कहा करता था कि वह जनसेवा के हेतु अनेक चिकित्सालय, औषधालय, धर्मशालाएँ तथा तालाब बनवाना चाहता है। परन्तु मैंने पूछा, "तुम यह सब क्यों करना चाहते हो? यदि ये सब मनुष्य को ईश्वर की ओर नहीं ले जाते, तो जीवन ही व्यर्थ हो जायगा। कर्म तो तुम्हें करना ही होगा, परन्तु उन्हें ईश्वरप्राप्ति का साधन बनाकर ही करना चाहिये। कर्मों को अपने आप में ही लक्ष्य न मानो। हमारे समस्त कर्मों का एक ही ध्येय है और वह है ईश्वर की प्राप्ति। जीवन का वस्तुतः दूसरा कोई भी उद्देश्य नहीं है।"

कुछ भजन होने के बाद सभा विसर्जित हुई। (क्रमशः)

□

---

१. ब्राह्म — ब्राह्मसमाज उन्नीसवीं शताब्दी का एक धार्मिक व समाज-सुधार आन्दोलन था। श्रीरामकृष्ण की इसके नेता श्री केशवचन्द्र सेन अन्तरंग मित्रता थी। ब्राह्मसमाज के अनुयायी ईश्वर के अवतरण का सिद्धान्त नहीं मानते थे।

रामकृष्ण भावधारा का उत्स

स्वामी बुधानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी बुधानन्दजी रामकृष्ण मिशन, नयी दिल्ली के प्रमुख थे। बेलुड़ मठ में २३ से २६ दिसम्बर १९८० ई. के दौरान बेलुड़ मठ के परिसर में रामकृष्ण संघ का जो द्वितीय महासम्मेलन हुआ था, उसके दूसरे सत्र में उन्होंने यह आमुख भाषण दिया था, जो यहाँ 'रामकृष्ण मठ एवं रामकृष्ण मिशन कन्वेन्शन १९८० — रिपोर्ट' से साभार गृहीत तथा अनुवादित हुआ है। - सं.)

क्या ही देवदुर्लभ दृश्य है यह! वस्तुत: इस सम्मेलन को सम्भव करने के लिए भगवान को स्वयं अवतार लेकर लीला करनी पड़ी। आप तनिक रामकृष्ण मठ तथा मिशन के सम्पूर्ण इतिहास का अनुध्यान करें कि कैसे यह सब हुआ और कैसे आप सब आज यहाँ उपस्थित हैं। यह ईश्वर का कार्य है और इसके द्वारा शास्त्रों की परिपूर्णता सिद्ध हो रही है। स्मरण कीजिए उस दिन का जब स्वामीजी (विवेकानन्द) ने समाधि का आनन्द पाने के लिए श्रीरामकृष्ण से हठ किया था और श्रीरामकृष्ण की उस रूपान्तरकारी फटकार का भी स्मरण कीजिए, जब उन्होंने कहा था, ''इतनी तुच्छ वस्तु की याचना! कहाँ तो मैंने सोचा था कि तू एक महान् वट-वृक्ष के समान होगा, जिसकी छाया में हजारों-लाखों जीव विश्राम पायेंगे! इतने छोटे दिल का न हो। समाधि से भी ऊँची एक अवस्था है।'' समाधि की इच्छा करना भी तुच्छ है — यह सुनकर स्वामीजी के विस्मय की सीमा न रही थी। परन्तु उस वृक्ष की विशाल शाखाएँ आज हम सम्पूर्ण विश्व में फैली हुई देख रहे हैं। और उसी के तले आज हम एकत्र हुए हैं। क्या इसमें शास्त्रवाणी की पूर्णता नहीं है? और फिर उस दिन का स्मरण कीजिए, जब श्रीरामकृष्ण के लिए भोजन ले जाने पर माँ (सारदादेवी) ने उन्हें आँखें मूँदकर लेटे हुए पाया था। माँ के द्वारा भोजन के लिए अनुरोध करने पर मानो वे गहरी नींद से उठे और कहा, ''जानती हो! मैं काफी दूर के देश में पहुँच गया था। वहाँ के लोग गोरी चमड़ी के थे। अहा! उनकी कैसी भक्ति है!'' परवर्ती काल में माताजी ने इस घटना की याद करते हुए कहा था, ''उस समय मैं कहाँ जानती थी कि गोरी चमड़ी के लोग कैसे होंगे।'' आज वे लोग यहाँ उपस्थित हैं। क्या यह शास्त्रवाणी की परिपूर्ति नहीं है?

फिर बेलुड़ मठ की स्थापना करने के पश्चात् स्वामीजी ने अपने शिष्य शरत्चन्द्र चक्रवर्ती से कहा था, ''यहाँ से जिस शक्ति का उदय होगा, वह सम्पूर्ण जगत को

आप्लावित कर देंगी।" और यह भविष्यवाणी भी पूरी होने जा रही है। इसीलिए मैं कहता हूँ कि यहाँ पर हमको शास्त्रवाणी की परिपूर्णता देखने को मिलती है।

मुझे आपके समक्ष रामकृष्ण-भाव-आन्दोलन पर कुछ कहने का आदेश मिला है। प्रारम्भ में आँसू की केवल कुछ बूँदें ही थीं। ये अश्रुबिन्दु निःसृत हुए थे इस धराधाम में अवतीर्ण श्रीभगवान के नेत्रों से। कालान्तर में इन आँसुओं ने एक सरिता का रूप धारण कर लिया और चल पड़ी सागर की ओर — मानवों की आत्म-परिपूर्णता के सागर की ओर। जो कोई भी प्रेम एवं भक्ति के साथ आया, तीव्र गति से सागर की ओर बह गया। और वे लोग भी जो आसानी से बह जाने वाले न थे, क्रमशः रूपान्तरित हुए। सागरवाहिनी सरिता सदा प्रवाहित हो रही है। यह हुई रामकृष्ण-भावधारा की कहानी।

श्रीगणेश

इस रहस्य का भेद रामकृष्ण मिशन की कार्यविवरणी में है। इसमें १८९७ ई. में श्री बलराम बोस के भवन में आयोजित हुई सभाओं की रीपोर्ट अंकित है। उल्लेख्य घटना मिशन की १८ वीं बैठक में ८ अगस्त, १८९७ ई. को हुई थी। उस दिन गिरीचन्द्र घोष ने श्रीरामकृष्ण-विषयक अपने संस्मरण सुनाते हुए कहा था — "एक दिन जब मैं परमहंसदेव के दर्शन करने गया, तो देखा कि वे खूब आँसू बहाते हुए कह रहे हैं, 'अहा, मेरा निताई (चैतन्यदेव) पैदल ही घर-घर जाकर लोगों में भगवत्-प्रेम का वितरण किया करता था, पर खेद! मैं तो गाड़ी के बिना नहीं जा पाता।'" एक दूसरे अवसर पर गिरीशचन्द्र ने ठाकुर की एक अन्य उक्ति का उल्लेख किया था — "यदि मुझे सिर्फ साबूदाने के पानी पर भी जीवन धारण करना पड़ा, तो भी मैं लोगों की भलाइ करता रहूँगा। हजारों जन्म लेकर भी यदि मैं एक व्यक्ति की मुक्ति में भी सहायक हो सका, तो मैं स्वयं को धन्य मानूँगा।" श्रीरामकृष्ण के जीवन की ऐसी घटनाओं पर मनन करके ही हम उनकी दिव्य पीड़ा और उसकी मार्मिकता को समझ सकते हैं।

१८५५ ई. में उनकी जो साधना प्रारम्भ हुई थी, ५ जून १८७२ ई. को षोटशी-पूजा के अनुष्ठान के साथ उसकी परिसमाप्ति हुई। उनकी साधना की अद्भुत गाथा आप सबको विदित ही है और यह भी कि ईश्वर के विविध रूपों के साथ निरन्तर साक्षात्कार के फलस्वरूप उन्हें कितने प्रकार की आध्यात्मिक अनुभूतियाँ हुई थीं। इसके बाद उन्हें यह उपलब्धि हुई कि ईश्वर सर्वत्र हैं, सभी वस्तुओं में

हैं और नित्य है। अव वे क्या करते? अब उन्हें अपने लिए क्या करना शेष रह गया था? माँ भवतारिणी ने कहा, "वेटा, अव तू भावमुख में रह।" भावमुख का अर्थ है — ब्रह्म तथा जगत की सीमा-रेखा पर अवस्थान करना। इस अवस्था में श्रीरामकृष्ण को जो कुछ अनुभव हुए थे, उनमें कुछ तो धर्म-विषयक सामान्य बातें थी तथा कुछ अपने वारे में थीं। कि वे एक साधारण मर्त्य जीव नहीं हैं और उनकी साधनाएँ अपने लिए नहीं वरन दूसरों के लिए है और साथ ही उन्हें यह भी पता चला कि उनका शरीर अव अधिक काल तक नहीं रहेगा।

अव श्रीरामकृष्ण को यह वोध हुआ कि वे ईश्वरावतार हैं तथा उनकी आध्यात्मिक अनुभूतियाँ उनके पास थाती के रूप में रखी गयी हैं। उन्हें व्यथा इस वात की थी कि ये अनुभूतियाँ जिनके लिए है, उन्हें वे कैसे सौंपी जाय। तीव्र आध्यात्मिक साधना के फलस्वरूप उनका शरीर इतना कोमल हो गया था कि वे कहीं आना-जाना नहीं कर सकते थे। अपनी आध्यात्मिक सम्पदा के उत्तराधिकारियों के पास वे आसानी से आवागमन नहीं कर सकते थे। अपने शिष्यों के आगमन की आकुल प्रतीक्षा — उनकी इस व्यथा को समझ पाना हमारी क्षमता से परे हैं। वे मन्दिर में वनी कोठी की छत पर चले जाते और मन-प्राण से पुकारते हुए कहते, "अरे, कहाँ हो तुम लोग? तुम लोगों के विना अव और नहीं रहा जाता।" उनकी पुकार की ध्वनि जगत में ज्यों-ज्यों प्रतिध्वनित होने लगी, भक्तगण एक-एक दो-दो कर आने लगे। इस प्रकार साधकों का आगमन प्रारम्भ हुआ। इनमें अधिकाश गृही थे, फिर भी उन्हें थोड़ी दिलासा मिली। समय वीतने पर उन्हें पता चला कि यद्यपि वे इन लोगों को अपना सब कुछ देना चाहते हैं, परन्तु ये लोग केवल उतना ही ले पाते हैं, जितना कि उनकी गृहस्थी के साथ निभ पाता है।

अतः अव वे स्कूल तथा कॉलेज के ऐसे नवयुवकों की राह देखने लगे, जिन्हें वे 'विना चोंच लगे फल' कहा करते थे तथा जो विना किसी दुविधा के देवार्पित किये जा सकते थे। और अव उन लोगों का भी आगमन शुरू हुआ। परन्तु वे अव भी एक ऐसे युवक की प्रतीक्षा में थे, जिसे उन्होंने अपनी एक अलौकिक अनुभूति में ध्यानमग्न महान ऋषि के रूप में, ध्यानसिद्ध महापुरुष के रूप में देखा था। अचानक ही एक दिन यह चिर-प्रतीक्षित मिलन हो गया। उस लड़के का नाम था नरेन्द्र — वही नरेन्द्र, जो वाद में विवेकानन्द हुए। श्रीरामकृष्ण के साथ उनके मिलन की वह अद्भुत कथा आप सवको विदित ही है। पहले दिन ही ठाकुर ने

घोषित किया – "तुम मानवता का कष्ट दूर करने आये हो।" एक दूसरे अवसर पर उन्होंने लिखा था – "नरेन्द्र शिक्षा देगा।"

नरेन्द्र जब यह जानकर पूरी तरह सन्तुष्ट हो गये कि श्रीरामकृष्ण ईश्वरद्रष्टा व्यक्ति है, तो अन्ततोगत्वा वे उनके शिष्य हो गये। जीवन के अन्तिम पर्व में श्रीरामकृष्ण ने अपने युवा-भक्तों का भार नरेन्द्र के हाथों में सौंपते हुए कहा, "इन लड़कों का ख्याल रखना और देखना कि वे घर न लौटें और एक साथ रहकर साधन-भजन करें।" फिर नरेन्द्र के भीतर वे अपनी आध्यात्मिक शक्तियों का संचार करनेके बाद बोले, "इस शक्ति के द्वारा तू जगत् में महान् कर्म करेगा और तदुपरान्त जहाँ से आया है वहीं लौट जाएगा।" इसके कुछ काल बाद ही अगस्त १८८६ ई. में श्रीरामकृष्ण ने महासमाधि ले ली और नरेन्द्र सहसा युगावतार की महान आध्यात्मिक शक्ति के उत्तराधिकारी हो गये। नरेन्द्र ने किस प्रकार इस शक्ति का उपयोग किया और अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करते हुए अपने समझ रखे हुए लक्ष्य को पूरा किया, इसकी चर्चा से पूर्व हमें यहाँ पर एक केन्द्रीय तथ्य का उल्लेख करना होगा, जो रामकृष्ण-भाव-आन्दोलन की मूलभूत शक्ति है।

यह केन्द्रीय तत्व तथा शक्ति हैं – माँ श्री सारदादेवी। वे श्रीरामकृष्ण की प्रथम शिष्या थीं। यहीं नहीं, वे जगदम्बा के रूप में श्रीरामकृष्ण द्वारा की गयी अन्तिम पूजा की भी ग्रहीता थी। वे विद्यारूपिणी और ज्ञानदायिनी थीं। श्रीरामकृष्ण ने उनके चरणों में अपनी समस्त साधनाओं के फल, स्वयं को तथा अपनी जपमाला भी समर्पित कर दी थी। श्रीरामकृष्ण ने उन्हें अपनी शक्ति कहकर घोषणा की थी, अतएव वे उनसे अभिन्न भी थीं।

श्रीसारदा देवी की भूमिका

माँ सारदा न केवल श्रीरामकृष्ण की, अपितु उनके शिष्यों का भी पालन-पोषण करनेवाली माता सिद्ध हुईं। श्रीरामकृष्ण की महासमाधि के शोक से उबरने के पश्चात् इस भाव-आन्दोलन के विकास में वे क्रमशः एक अनुपम पद पर प्रतिष्ठित हुईं। उन्हीं का सार्थक आशीर्वाद अपने साथ लेकर स्वामीजी अमेरिका गये थे, जिसकी उत्तरकथा आप सबको ज्ञात है। यह उनकी अतीव दूरदर्शिता तथा अदृश्य व्यवस्थापन-शक्ति ही थी, जो संन्यास की सीमा से परे रहकर भी इस भाव-आन्दोलन को विकसित तथा उसकी दिव्य धुरी पर परिचालित करती रहती थी। उन्होने अपनी आकुल प्रार्थना के द्वारा संघ का भविष्य सुनिश्चित किया। यदि हम ध्यानपूर्वक

देखें, तो हमें संघ के आकार-प्रकार के रूप में सर्वत्र उनकी ऊँगलियों की छाप दिखाई पड़ेगी। स्वामीजी को असंख्य अवसरों पर क्षुधा से पीड़ित होना पड़ा था, परन्तु माताजी ने अपने व्यक्तिगत हस्तक्षेप से श्रीरामकृष्ण की कृपा को इस प्रकार नियोजित किया कि संघ के संन्यासी अब कहीं भी क्षुधापीड़ित नहीं होते। इतना ही नहीं, श्रीरामकृष्ण से प्रार्थना करके उन्होंने इस संघ को एक नवीन दिशा भी दी। उन्होंने कहा था, "ठाकुर, मैं प्रार्थना करती हूँ कि जो कोई भी तुम्हारे लिए संसार का त्याग करे, उसे भोजन-वस्त्र का अभाव न सहना पड़े। मेरी यह भी प्रार्थना है कि मेरे बच्चे तुम्हें और तुम्हारे उपदेशों को लेकर एक साथ मिलकर जीवन व्यतीत करें और संसार के दुःख-तापों से दग्ध लोग उनके पास आकर तथा तुम्हारी बातें सुनकर मन की शान्ति पाएँ। इसी हेतु तो तुमने नररूप में अवतार लिया था। अपने बच्चों को इधर-उधर भटकते देखकर मेरा मन आकुल हो उठता है।" इस प्रकार उन्होंने प्राचीन संन्यास-आश्रम को लोकसंग्रह के सन्दर्भ में एक नयी दिशा प्रदान की, जिससे गृही भक्तों को भी जीवन में प्रेरणा एवं शान्ति मिले।

वे सांसारिक परिवेश में रहकर भी संसारी न थीं। फिर इस विकासमान संघ पर अनजाने में ही उनका ऐसा नियन्त्रण था कि स्वामीजी तथा उनके महान गुरुभाइयों के लिए उनके शब्द वेदवाक्य के समान स्वीकृत होते थे। आदर्श अथवा अन्य किसी भी विषय से सम्बन्धित जो भी समस्याएँ उनके सम्मुख प्रस्तुत की जातीं, उन सबका उनसे युक्तियुक्त समाधान मिल जाता। उनके वे उत्तर आज भी संघ के लिए पथप्रदर्शक बने हुए हैं। एक साधारण-सी महिला अवतार के अपूर्ण कार्य को इतनी सहजतापूर्वक करते हुए इतने महान उत्तरदायित्व का निर्वाह करें — ऐसा उदाहरण जगत के धर्मेतिहास में दूसरा नहीं मिलता। यह हुई रामकृष्ण संघ के इतिहास में श्री सारदादेवी की भूमिका। उन्होंने श्रीरामकृष्ण द्वारा इस जगत में छोड़ी गयी सारी आध्यात्मिक शक्तियों को एकत्र किया तथा उसके द्वारा उन्होंने पूरे संघ को अपनी छाती में चिपकाकर उसका पोषण, रक्षण एवं मार्गनिर्देशन किया। उनकी देखरेख में संघ निरन्तर विकसित हो रहा है और होता रहेगा। अतः हम इस सारे ब्रह्माण्ड में किसी से भय नहीं, क्योंकि माताजी ने हमें अपनी सुरक्षित बाँहों में ले रखा है।

सार्वभौमिक पक्ष

श्रीरामकृष्ण से शक्ति, दिशा तथा आदेश पाकर नरेन ने क्या किया? वे विवेकानन्द बन गए, आचार्य बन गये। उन्होंने सर्वदा एक आचार्य के समान चिन्तन

तथा कर्म किये। सार्वभौमिक दृष्टिकोण अपनाते हुए उन्होंने अपना सन्देश इस प्रकार दिया कि जिससे उसके द्वारा प्रत्येक मानव का दैहिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक — सभी स्तरों पर कल्याण हो सके। युवा आचार्य विवेकानन्द के रूप में परिणत नरेन ने ही विश्व को रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन के रूप में एक अनुपम संगठन प्रदान किया तथा इस संघ को विश्वव्यापी उत्तरदायित्व सौंपे। मैं यहाँ पर मठ व मिशन के कार्यों की विस्तृत चर्चा में नहीं जाना चाहता, मैं तो केवल इतना ही बताना चाहता हूँ कि इस भावधारा का उद्देश्य क्या है।

इस भावधारा में जगत की कुछ ऐसी समस्याओं के वैचारिक समाधान मिलते हैं, जिन्होंने विश्व के चिन्तकों एवं क्रान्तिकारियों को किंकर्तव्यविमूढ़ कर रखा है। हमने एक-एक कर जगत की समस्त विचारधाराओं को निरखा-परखा है, परन्तु उन सबमें कुछ-न-कुछ खामियाँ दीख पड़ी; क्योंकि किसी ने भी मानव को उसकी समग्रता में — उसके सभी पहलुओं के साथ लेने की परवाह नहीं की। मानव के आधे व्यक्तित्व के लिए — उसके पेट तथा अन्य बातों के लिए — अद्भुत दर्शन रचे गये हैं, परन्तु इससे ऊपर के स्तर पर कोई भी नहीं गया। दूसरी ओर है विवेकानन्द का दर्शन, जो सहज, स्पष्ट तथा निर्भीक है। चूँकि पूर्ण अस्तित्व ईश्वर का स्वभाव है और अस्तित्व एक ही है, अतः मूल रूप से जीव और परमात्मा अभिन्न है। जब यह पूर्ण अभिन्नता भूला अथवा नजरन्दाज कर दी जाती है, तभी अस्तित्व की समस्याओं का उद्भव और उपचय होता है। जीवात्मा और परमात्मा की इस पूर्ण अभिन्नता की जीवन के हर सन्दर्भ में उपयोगिता का पता लगाकर संसार की सारी समस्याएँ हल की जा सकती है। हम चाहे जहाँ से भी आरम्भ कर सकते हैं और चाहे जहाँ तक जा सकते है; पर हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि ईश्वर ही हमारे लक्ष्य हैं। हमें आत्मा की ओर, परमात्मा की ओर सदा आगे ही आगे बढ़ते रहना चाहिए, अन्यथा हम लक्ष्य तक पहुँच ही नहीं सकेंगे। ईश्वर कहीं दूर नहीं है, क्योंकि ऐसा कोई भी स्थान नहीं, जहाँ वे पहले से ही विद्यमान न हों।

अतः यह भावधारा वर्तमान काल की सभी समस्याओं तथा चुनौती-भरे प्रश्नों का अत्यन्त साहसपूर्ण समाधान देती है। यदि मिट्टी की मूर्ति में ईश्वर की पूजा हो सकती है, तो फिर मानव के भीतर क्यों नहीं हो सकती? यह भावधारा उत्कृष्ट वेदान्त-दर्शन के स्फूर्तिदायी संदेश को इस ढंग से प्रस्तुत करती है कि आधुनिक मानव को वह सहज ही बोधगम्य हो जाता है। श्रीमाँ ने कहा — "सारी दुनिया

को अपना बना लेना सीखो, बेटे! यहाँ कोई भी पराया नहीं है, सारा संसार ही तुम्हारा अपना है।'' यह सन्देश किसने दिया है? माँ के हृदय के सिवा — जो कि जगदम्बा का ही हृदय है – भला कौन ऐसा सन्देश दे सकता है? तभी तो उन्होंने कहा — ''सभी तुम्हारे अपने हैं।'' सबके अन्दर विद्यमान उस एक आत्मा को देखते हुए ही सबको अपना बनाया जा सकता है। सब तरह के आपसी व्यवहार में उस आध्यात्मिक विधि का पालन करना होगा, जिसकी घोषणा स्वामीजी ने शिकागो धर्ममहासभा के अपने अन्तिम व्याख्यान में की थी — ''सहायता, न कि युद्ध; परभावग्रहण, न कि परभावविनाश; साम्य और शान्ति, न कि मतभेद और कलह!'' जीवन में सर्वोच्च सत्यों का बीज बोकर ही हम वह सुनहरी फसल काट सकेंगे, जो जगत में सबकी क्षुधा शान्त करेगी तथा जीवन की सारी आवश्यकताओं की पूर्ति भी। इस जगत में कोई भी भूखा न रहे। हम सब के आँसू पोंछ सकते हैं, समस्त भय का मोचन कर सकते हैं; परन्तु जिस वस्तु की सर्वाधिक आवश्यकता हैं, वह है प्रेम। इस प्रेम के अभाव में समृद्धि से भरपूर संसार भी सबको यथेष्ट आहार न दे सकेगा। कोई भी राजनीति मानव-हृदय में प्रेम का संचार करने में समर्थ नहीं है। आचरण में लाया हुआ धर्म ही इसे सुसम्पन्न कर सकता है, और यही इस भावधारा का उद्देश्य है। वर्तमान की धारा की अपेक्षा, भूतकाल की धारा की अपेक्षा, यह भाव-आन्दोलन भविष्य की भावधारा है। आत्मा की परम मुक्ति और जगत का हित साधित करने के निमित यह रामकृष्ण-भाव-आन्दोलन वैदान्तिक आदर्शों को दैनन्दिन जीवन में कार्यशील बनाने हेतु कार्यरत है। यह एक वर्धमान भाव-आन्दोलन है, जिसकी गति समस्त संसार में व्याप रही है। इस संक्षिप्त व्याख्यान में हम केवल एक वातायन ही प्रस्तुत कर सकते हैं, जिससे आसपास की जुती हुई भूमि तथा दूर नीला क्षितिज दीख पड़ता है। मित्रों! आनन्द मनाओ, प्रभु के भक्तो! आनन्द मनाओ कि प्रभु की कृपा से रामकृष्ण-भाव-धारा प्रवाहमान है।

□

यदि भूखों को भोजन का ग्रास देने में नाम, सम्पत्ति और सब कुछ नष्ट हो जायें, तब भी — अहो भाग्यमहो भाग्यम् — अत्यन्त भाग्यशाली हो तुम हृदय और केवल हृदय ही विजय प्राप्त कर सकता है, मस्तिष्क नहीं। पुस्तकें और विद्या, योग, ध्यान और ज्ञान — प्रेम की तुलना में ये सब धूलि के समान हैं।

— **स्वामी विवेकानन्द**

स्वामीजी और सामाजिक न्याय

अजीतनाथ राय

(भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश, उच्चतम न्यायालय)

काशीपुर में एक दिन श्रीरामकृष्ण ने नरेन्द्रनाथ (स्वामी विवेकानन्द) से कहा था, "आज मैं तुझे सब कुछ देकर फकीर हो गया हूँ।" यही वह शक्ति थी, यही वह आध्यात्मिकता थी, जिसका श्रीरामकृष्ण ने उनमें संचार किया था। स्वामीजी ने भी एक बार कहा था, "यदि कोई व्यक्ति एक गुफा में चला जाय और उसमें स्वयं को बन्द करके एकान्त में किसी गहन तथा उदात्त विषय पर एकाग्रचित होकर निरन्तर मनन करता रहे और आजन्म ऐसा ही करते हुए प्राण त्याग दे, तो उसके उस विचार की तरंगें गुफा की दीवारों को भेदकर आकाश में स्पन्दित होते हुए, अन्त में सम्पूर्ण मानव जाति में प्रविष्ट हो जाती हैं। विचारों में ऐसी ही अद्‌भुत शक्ति है। लोगों में ज्ञान का प्रसार केवल वही कर सकता है, जिसके पास देने के लिए कुछ हो, क्योंकि शिक्षा देने का अर्थ केवल व्याख्यान देना या सिद्धान्त देना नहीं है। इसका अर्थ है सम्प्रेषण। जिस प्रकार मैं तुम्हें एक फूल दे सकता हूँ, उसी प्रकार प्रत्यक्ष रूप से आध्यात्मिकता का भी सम्प्रेषण किया जा सकता है।" आध्यात्मिकता के इस सम्प्रेषण ने स्वामीजी के मन-प्राण को मानवता की ओर मोड़ दिया। "जीवों पर दया नहीं, बल्कि शिवबोध से उनकी सेवा" — श्रीरामकृष्ण की इस उक्ति को स्वामीजी ने आज के जगत के लिए परम आवश्यक महान सत्य तथा आध्यात्मिकता के रूप में प्रचारित किया।

जिस प्रकार श्रीरामकृष्ण ने स्वामीजी में आध्यात्मिकता का संचार किया गया, ठीक उसी प्रकार स्वामीजी ने भी हमारे राष्ट्र तथा समाज में आध्यात्मिकता का संचार किया। आध्यात्मिकता का शारीरिक शक्तियों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। आध्यात्मिकता ही वह वास्तविक शक्ति है, जिसे चरित्र कहते हैं। यह कामनाओं तथा वासनाओं का उन्मूलन कर देती है। और मनुष्य को ईश्वर की अभिव्यक्ति के रूप में जान लेना ही आध्यात्मिकता का सार है।

किसी भी व्यवस्था की नींव तब तक सुदृढ़ तथा स्थाई नहीं हो सकती, जब तक कि वह आध्यात्मिकता पर आधारित न हो। स्वामीजी ने घोषित किया कि श्रीरामकृष्ण के आविर्भाव के दिन से ही सत्ययुग आरम्भ हो गया है। सत्ययुग की व्याख्या करते हुए उन्होंने बताया, "अब से सभी प्रकार के भेदों का अन्त हो जाएगा

और चाण्डाल तक, सभी उस दैवी प्रेम के भागी होंगे। पुरुष और नारी, धनी तथा गरीब, शिक्षित तथा अशिक्षित, ब्राह्मण तथा चाण्डाल — इन सभी के बीच फैले भेद-भावों को समूल नाश करने के लिए ही उनका जीवन व्यतीत हुआ। वे शान्ति के दूत थे — हिन्दू और मुसलमानों का भेद, हिन्दू और ईसाइयों का भेद — ये सब अब अतीत की बातें हैं। भेद-सम्बन्धी संघर्ष किसी अन्य युग की चीज थी। इस सत्ययुग में श्रीरामकृष्ण के प्रेम की उत्ताल तरंगों ने सबको एकाकार कर दिया है।''

अपने मानव-भाइयों के प्रति प्रेम से उत्पन्न यह आध्यात्मिक एकता ही सामाजिक न्याय की सुदृढ़ नींव होगी। सभी नर-नारियों में एक ही दिव्य आत्मा या ईश्वर को देखते हुए उनके प्रति समभाव — यही समानता का सिद्धान्त है। क्या आध्यात्मिक और सामाजिक मूल्य परस्पर-विरोधी हैं? आध्यात्मिकता को ही यदि जीवन का चरम लक्ष्य बना लें, तो क्या समाज का ताना-बाना विच्छिन्न हो जाएगा? मनुष्य एक ऐसा सामाजिक प्राणी है, जिसका व्यक्तित्व अन्य लोगों के साथ सम्बन्ध के द्वारा ही अभिव्यक्त तथा विकसित हो सकता है। एक व्यक्ति के साथ दूसरों के साथ सम्बन्ध का जाल ही समाज का सामान्य क्षेत्र है। व्यक्तियों के क्रियाकलाप के अभाव में समाज का कोई अस्तित्व ही नहीं रह जाता। अतएव समाज में व्यक्तियों की भूमिका सर्वोपरि महत्व की है। स्वामीजी ने एक वाक्य में बताया कि किस प्रकार व्यक्तिगण सामाजिक न्याय की मानवीय आकांक्षा को पूर्ण करते हैं। उन्होंने कहा, ''हमें राष्ट्र को उसका खोया हुआ व्यक्तित्व लौटाकर, जनसाधारण को उन्नत करना होगा।''

वैयक्तिकता और सामाजिक न्याय के बीच क्या सम्बन्ध है? वैयक्तिकता मूलतः आध्यात्मिक है; परन्तु शारीरिक, भौतिक एवं बौद्धिक शक्ति के बिना आध्यात्मिकता में कोई उन्नति नहीं हो सकती। स्वामीजी ने कहा, ''मैं जो चाहता हूँ वह है लोहे की पेशियाँ और फौलाद के स्नायु, जिसके भीतर वज्र के से पदार्थ का बना हुआ मन निवास करता हो।'' स्वामीजी की और भी एक महत्वपूर्ण उक्ति है, ''मैं ऐसे ईश्वर को नहीं चाहता, जो करोड़ों भूखों को भोजन न दे सके।'' यहाँ भौतिक कल्याण को वे आध्यात्मिक उन्नति का सहायक मानते हैं। ''खाली पेट धर्म नहीं होता'' — जीवन के प्रति वास्तविक दृष्टिकोण क्या कहीं स्वामीजी की उपरोक्त वाणी की अपेक्षा उत्कृष्टतर रूप में व्यक्त हुआ है? स्वामीजी राष्ट्र को सशक्त बनाना और प्राचुर्य व समृद्धि की भूमि के रूप में भारत की अतीत महिमा को पुनः स्थापित करने की सम्भावनाओं के प्रति सचेत करना चाहते थे।

व्यावहारिक सत्य ही सामाजिक न्याय है। सत्य के दावे सामाजिक न्याय से पृथक नहीं है। मानवतावाद, स्वाधीनता तथा सत्य ऐसे महत्वपूर्ण नैतिक मूल्य हैं, जिन्हें मानवजाति के हित में बचाए रखना होगा। जो लोग एक बेहतर तथा सुखपूर्ण मानव-जीवन की कामना करते हैं, उन सभी के लिए समाज ही मूल आधार है। भलाई तथा बुराई से रहित जीवन के समान ही परिपूर्ण समाज भी एक परिकल्पना मात्र है। सामाजिक समस्या एक सांस्कृतिक समस्या है। सामाजिक व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए, जो विज्ञान, कला तथा मानवतावाद के विकास में सहायक हो। इनके अभाव में जीवन धारण के कष्ट निरर्थक हैं। मानवीय विकास के लिए सामाजिक व्यवस्था का निर्धनों तथा पिछड़े वर्गों के पक्ष में आमूल रूपान्तरण आवश्यक है। सामाजिक क्रान्ति हजारों वर्ष पहले प्रारम्भ हुई और जब-तब मानवीय मन में घटित होती रहेगी।

व्यक्तिगत शक्तियों के सहयोग तथा समन्वय पर आधारित व्यवस्था के द्वारा ही एक सच्चे समाजवादी समाज का निर्माण होगा। प्रत्येक व्यक्ति का स्वाधीन विकास ही सबके स्वाधीन विकास की शर्त है। स्वामीजी हमसे दो बातें पूछते हैं; पहला — क्या तुम मनुष्य से प्रेम करते हो? और दूसरा — क्या तुम्हें अपने देश से लगाव है? प्राचीन भारत के प्रज्ञावान ऋषियों ने कहा कि कोई भी व्यक्ति या समाज, न तो भौतिक समानता के विना भौतिक स्वाधीनता की दिशा में और न मानसिक समानता के विना मानसिक स्वाधीनता की दिशा में प्रयास कर सकता है। एक न्याययुक्त समाज के निर्माण हेतु स्वामीजी ने हमें समानता तथा सामाजिक उन्नति का दर्शन दिया है। जनसाधारण तथा महिलाओं की उन्नति ही इस समानता का सच्चा तत्त्व होगा।

न्याय को सामान्यतया नैतिकता के अन्तर्गत स्थान दिया जाता है। न्याय से तात्पर्य केवल न्यायपूर्ण कार्य करने तक ही सीमित नहीं है। एक विशिष्ट नैतिक मनोवृत्ति या चरित्र का स्तर भी इसी के अन्तर्गत आता है। न्याय एक सामाजिक गुण है। सामाजिक गुण के रूप में न्याय का उद्देश्य है — मानवीय क्रिया-कलापों के बीच सन्तुलन बनाए रखना। न्याय के अनुसरण तथा अभ्यास से सत्य की उपलब्धि होती है।

स्वामीजी ने भारतीय समाज को सामन्तवादी, जातिभेद-जर्जरित तथा पुरोहिती प्रथा से लदा हुआ देखा। पुरोहिती-प्रथा का प्राबल्य, निरंकुश भेदभाव की सृष्टि और जाति, मत तथा अस्पृश्यता के आधार पर जनसाधारण की अवहेलना — ये

हमारी सामाजिक प्रगति में बाधक बन गए थे। सच्चे धर्म का कहीं भी पालन नहीं होता था। भेदभाव तथा संघर्षों को दूर करना ही धर्म का उद्देश्य है। स्वामीजी के शब्दों में भारत के अधःपतन का मूल कारण है, "विश्व का महानतम (हिन्दू) धर्म, जो कभी जीवन का स्रोत था, उसे व्यावहारिक रूप दे पाने में हमारी असफलता। मनुष्य रूप धारण करनेवाला प्रत्येक प्राणी ब्रह्माण्ड के साथ एकत्व रूपी सनातन सत्य की अभिव्यक्ति है।" समानता का यह भाव ही स्वार्थत्याग एवं सहानुभूति का मूल है। स्वामीजी ने बताया कि मनुष्य भूल से सत्य की ओर नहीं, बल्कि निम्नतर सत्य से उच्चतर सत्य की ओर अग्रसर होता है। उच्चतर सत्य चिरंतन है, अनन्त है, वह एक व्यक्ति नहीं, अपितु एक सिद्धान्त है। व्यष्टि का जीवन समष्टि का जीवन है, व्यष्टि का सुख समष्टि का सुख है। समष्टि से पृथक व्यष्टि की कल्पना ही नहीं की जा सकती। इसीलिए स्वामीजी हमारा खोया हुआ व्यक्तिगत हमें लौटा देना चाहते थे।

समानता और स्वाधीनता तभी सम्भव हैं, जब हम सभी विशेषाधिकारों को मिटा डालें। जाति का विशेषाधिकार, शक्ति का विशेषाधिकार, पद का विशेषाधिकार, धन का विशेषाधिकार — ये सभी प्रगति के अवरोधक हैं, क्योंकि ये अन्याय की सृष्टि करते हैं। स्वामीजी ने कहा, "समाज धरती के समान निरन्तर धैर्यपूर्वक अत्याचारों को सहता है, परन्तु एक दिन वह जागता है और इस जागरण के दोलायमान स्पन्दन की शक्ति लाखों धैर्यपूर्ण एवं शान्त वर्षों के दौरान एकत्र स्वार्थपूर्ण नीचता की धूल को दूर फेंक देती है।" यह दिव्य भविष्यवाणी वह आलोक रेखा है, जिसने इस शताब्दी की मानवीय आत्मा की अव्यवस्था को प्रकट किया है और अन्ततः, स्वामीजी के शब्दों में, "एक समय ऐसा आएगा, जब प्रत्येक देश के शुद्र प्रत्येक समाज में पूर्ण प्रभुत्व हासिल कर लेंगे।" यहाँ स्वामीजी का तात्पर्य किसी जाति विशेष से नहीं, अपितु किसान, मजदूर तथा सभी पिछड़े लोगों से है।

स्वामीजी ने हमें एक ऐसे सत्य का स्मरण दिलाया, जिसे हम काफी काल से भूल चुके थे और वह यह कि जातिप्रथा का धर्म से कोई नाता नहीं, यह तो एक सामाजिक व्यवस्था मात्र है। संस्कृत में जाति शब्द का अर्थ है जन्म या सृष्टि। जाति का मूलभूत उद्देश्य था — व्यक्ति को अपना स्वभाव या प्रकृति अभिव्यक्त करने की स्वाधीनता प्रदान करना। वर्तमान व्यवस्था वास्तविक जाति नहीं, वरन् उसके विकास में बाधक है। सच कहें तो इसने जाति की स्वाधीन क्रिया में अवरोध

उत्पन्न किया है। विशेषाधिकार या जन्मगत वर्ग सच्ची जाति व्यवस्था का पूर्ण विकास नहीं होने देता।

स्वामीजी का कहना था कि हमें जाति से आरम्भ करने के बाद उसके परे जाना है। जीवन रूपी समस्या के समाधान की जाति एक नैसर्गिक व्यवस्था है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि एक व्यक्ति को ऊँचा और दूसरे को नीचा बताकर वैषम्य, अस्पृश्यता, बहिष्कार, विशेषाधिकार अथवा अत्याचार को प्रश्रय दिया जाय। भौतिक स्तर पर प्रतिस्पर्धा तथा सबके लिए समान अवसर इस बात का द्योतक है कि जाति के घेरे टूटते जा रहे हैं। परन्तु जाति के घेरों को तभी पूरी तौर से दूर किया जा सकता है, जब सम्पूर्ण राष्ट्र एक मन तथा एक ही विचारोंवाला हो जाय और जब पूरा देश एक व्यक्ति, एक समाज तथा एक प्राण होकर सभी को मोतियों के समान एक ही लड़ी में पिरो ले।

भारत में धर्म को कभी बन्धन में नहीं रखा गया, परन्तु समाज नियंत्रित तथा कठोर रहा। हमारे देश की सामाजिक संस्थाओं ने सामाजिक ढाँचे की स्वाधीनता पर नियंत्रण बनाए रखा, परन्तु धर्म के क्षेत्र में लोगों को सोचने तथा चुनने की स्वाधीनता रही। दूसरी ओर पाश्चात्य देशों में धर्म बन्धन में तथा अनम्य रहा। वहाँ धार्मिक विचारों पर नियंत्रण रहा, परन्तु समाज स्वाधीन तथा व्यक्तिपरक रहा।

स्वामीजी ने जो कहा, "मैं एक समाजवादी हूँ, इसलिए नहीं कि मैं इसे एक परिपूर्ण व्यवस्था मानता हूँ, परन्तु कुछ नहीं से थोड़ा भला।" इस उक्ति का प्रायः गलत अर्थ लगाया गया है। जब स्वामीजी समाजवाद पर बोले, तो उनके मन में पाश्चात्य देशों के समान भौतिक समाजवाद का भाव नहीं था। स्वामीजी चाहते थे कि समाज में नैतिक तथा आध्यात्मिक पुनरुज्जीवन आए और वह मनुष्य की स्वाभाविक अच्छाई तथा नैतिकता को व्यक्त करे। केवल आर्थिक सुधार से ऐसा फल नहीं निकल सकता। इसके लिए आन्तरिक परिवर्तन की आवश्यकता है। स्वामीजी हमें त्याग और सेवा के अपने राष्ट्रीय आदर्शों का अनुसरण करने को कहते हैं। त्याग के बिना कोई भी परोपकार में अपना पूरा हृदय नहीं उड़ेल सकता। सेवा का आदर्श साम्प्रदायिक कलह तथा जातीय घृणाभाव का उन्मोचन कर डालता है। जनहितकर सेवा सामाजिक प्राणियों के अधिकारों तथा कर्तव्यों के बीच बौद्धिक तथा आध्यात्मिक स्तर पर सन्तुलन स्थापित करती है।

स्वामीजी का 'समानता' का सन्देश दो स्तम्भों पर टिका है — जनसाधारण की उन्नति और महिलाओं की उन्नति। राष्ट्र को स्वामीजी का अविस्मरणीय सन्देश है,

"युवको! निर्धनों, अशिक्षितों तथा पीड़ितों के लिए सहानुभूति और संघर्ष में तुम्हें धाती के तौर पर सौंपता हूँ।" स्वामीजी ने समृद्ध वर्ग को आड़े हाथों लेते हुए कहा, "मैं उस प्रत्येक व्यक्ति को विश्वासघाती कहता हूँ, जो करोड़ों मेहनतकश निर्धनों के हृदय के रक्त से शिक्षित तथा विलासतासम्पन्न होकर भी कभी उनके बारे में सोचता तक नहीं।" न्याय की तुला तभी सन्तुलित होगी, जब समाज जनसाधारण को ईश्वर समझकर उन्हें शिक्षा देगा और उनके भीतर निहित क्षमताओं के बारे में उनमें प्रचण्ड आत्मविश्वास जगाएगा।

स्वामीजी ने लोगों से नारियों को भी जगदम्बा की साक्षात् प्रतिमूर्ति के रूप में उचित सम्मान देने को कहा। शक्ति की इन सजीव प्रतिमाओं को सम्मान न देना ही हमारी जाति के अधःपतन का एक प्रधान कारण है। जिस प्रकार एक पक्षी दो पंखों के सहारे ही उड़ सकता है, उसी प्रकार नर तथा नारी दो ऐसे पंख हैं, जिनके सहारे ही समाज महान ऊँचाइयों तक उठ सकता है। नारी जाति की आन्तरिक शक्ति एवं पवित्रता के द्वारा समाज को आध्यात्मिकता का राष्ट्रीय आदर्श पकड़े रहना होगा और इसके लिए उन्हें शिक्षा देकर, एक ओर तो धर्मपरायण माताओं के द्वारा वीर सन्तानों को तथा दूसरी ओर नारी मठों में संन्यासिनियों को उत्पन्न करने में सक्षम होना चाहिए।

यूरोप में स्वामीजी को अनुभव हुआ कि शिक्षा के द्वारा धनी या निर्धन सभी को उनका व्यक्तित्व प्रदान किया जा सकता है। आम जनता के बीच शिक्षा-विस्तार के अनुपात में ही एक राष्ट्र उन्नत होता है। स्वामीजी के विचार साहसपूर्ण, परन्तु व्यावहारिक थे। हमें खेतों-कारखानों में जाकर, किसानों-मजदूरों को शिक्षा देकर, उनकी विचारों को आत्मसात् करने की क्षमता को विकसित करना होगा। शिक्षा केवल धर्म के ज्ञान तक ही सीमित न हो, बल्कि इसे मानवीय सभ्यता के जागतिक एवं आध्यात्मिक सभी पहलुओं को समाहित कर लेने के उपयुक्त सर्वग्राही बनाना होगा। वेदान्त से युक्त विज्ञान ही भावी मानवता का आदर्श है। स्वामीजी ने हमें मैजिक लैंटर्न, मानचित्रों, भूगोलकों तथा कुछ रसायनों के साथ निर्धनों के बीच जाकर उन्हें भूगोल तथा नक्षत्रविज्ञान तक की शिक्षा देने को कहा है। शिक्षा का उद्देश्य चरित्र-निर्माण है। शिक्षा हमें मन को नियंत्रण में लाने की क्षमता प्रदान करती है और इसके द्वारा हम ऐसी समस्त चीजों का त्याग कर सकेंगे, जो हमें शारीरिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से दुर्बल बनाती हैं। लौकिक के साथ-ही-साथ आध्यात्मिक ज्ञान का भी अर्जन शरीर, मन तथा आत्मा के बीच सन्तुलन स्थापित

करेगा। पश्चिमी जगत में बाह्य प्रकृति पर विजय पाई जा रही है और पूर्व में हम अन्तःप्रवृत्ति को जानने का प्रयास कर रहे हैं। मानवता के इन दो पक्षों को हमें जोड़ना होगा।

समानता की नींव पर समाज का निर्माण करने के लिए हमें सामाजिक सुधारों तथा आन्दोलनों के आध्यात्मिक लाभ दिखाते हुए, उन्हें प्रचलित करना होगा। "हमारे समाज का उत्थान आत्मा की शक्ति से होगा, न कि जड़ की शक्ति से; शान्ति व प्रेम की ध्वजा के साथ होगा, न कि विनाश के झण्डे के साथ; धन की शक्ति से नहीं, अपितु संन्यासी के गैरिक वस्त्रों के साथ भिक्षापात्र की शक्ति से होगा।" स्वामीजी ने समाज को उन मुट्ठी भर लोगों की ओर देखने को कहा, जिनका जीवन श्रीरामकृष्ण के चरणस्पर्श से रूपान्तरित हो गया था। श्रीरामकृष्ण के इन शिष्यों ने मानव-प्रेम का उनका सन्देश प्रचारित किया। स्वामीजी ने हमें श्रीरामकृष्ण के इन प्रत्यक्ष शिष्यों के पदचिह्नों का अनुसरण करने को कहा। वे बोले, "तुम्हारे देश को और जगत को भी इसकी आवश्यकता है। अपनी अन्तर्निहित दिव्यता को व्यक्त करो, जो तुम्हें भूख-प्यास और शीत-उष्णता को सहन करने में सक्षम बनाएगी। मानवीय श्रृंखलाओं का एक ऐसा सेतु बनाओ, जिस पर से होकर करोड़ों लोग इस जीवन-सागर को पार कर सकें।"

स्वामीजी ने एक ओर तो उच्च वर्गों को चलायमान शव कहकर उनकी कठोर भर्त्सना की और दूसरी ओर निर्धन किसानों-मजदूरों तथा धनिक वर्गों के बीच वर्गसंघर्ष उत्पन्न करने से भी राष्ट्र को मना किया। स्वामीजी ने सावधान करते हुए कहा कि भारत की नारियों के लिए एकमात्र पथ है – सीताजी के पदचिह्नों पर चलकर विकसित होना। महिलाओं को अधूरे पुरुषों के रूप में नहीं, बल्कि परिपूर्ण नारी बनने का प्रयास करना होगा।

बेलुड़ मठ में एक बार कुछ मजदूर कम कर रहे थे। इन गरीब सन्थालों के प्रति स्वामीजी के हृदय में असीम प्रेम था। एक दिन स्वामीजी ने कहा कि वे इन लोगों को भोजन कराएँगे। उन लोगों ने बताया कि वे लोग नमक पड़ा हुआ भोजन नहीं ग्रहण कर सकेंगे, क्योंकि यह उनकी सामाजिक प्रथा के विरुद्ध था। स्वामीजी ने उनके लिए बिना नमक का भोजन बनवाया और नमक अलग से परोसा। भोजन हो जाने पर उन्होंने कहा, "तुम लोग नारायण हो। तुम्हें भोजन कराने से आज मेरी साक्षात् नारायण-सेवा हुई।" तदुपरान्त वे मठ के संन्यासियों तथा ब्रह्मचारियों की ओर उन्मुख होकर बोले, "देखो, ये निर्धन-निरक्षर लोग कितने सरल हृदय के

हैं! क्या तुम इनके दुःख को थोड़ा कम कर सकोगे ? यदि नहीं, तो फिर तुम्हारे गैरिक-वस्त्र धारण करने से क्या लाभ ? दूसरों की भलाई के लिए सर्वस्व त्याग — यही सच्चा संन्यास है।" स्वामीजी की यह वाणी ही जनसाधारण की अथक सेवा में रत रामकृष्ण मिशन की प्राणशक्ति है। एक न्यायपूर्ण समाज का निर्माण करने के लिए हमें भी इस प्रेरणादायी वाणी को अपनी प्राणशक्ति बनाना होगा।

स्वामीजी का आशावाद तथा विश्वास ही हमें भी आशा व साहस प्रदान करता है। मानव जाति की आध्यात्मिकता के धरातल पर समाज का सामंजस्य ही उनका समता का सन्देश है। जनसाधारण के उत्थान का उनका सन्देश सामाजिक ढाँचे में सन्तुलन उत्पन्न करता है। नारियों के उत्थान का उनका आग्रह उनकी इसी अनुभूति से प्रकट हुआ है, "हमारी प्राचीन भारतमाता एक बार फिर जाग उठी है और पुनर्जीवन प्राप्त कर, पहले से भी अधिक गौरवान्वित होकर अपने सिंहासन पर विराजित है। शान्ति और आशीष की वाणी के साथ पूरे विश्व में उसके नाम की घोषणा करो।"

स्वामीजी का राष्ट्र को आह्वान हमारे कानों में गूँजता है — "भारत तभी जागेगा, जब विशाल हृदयवाले सैकड़ों नर-नारी भोग-विलास तथा सुख की सभी इच्छाओं को विसर्जित कर मन, वाणी तथा काया से उन करोड़ों भारतवासियों के लिए सचेष्ट होंगे, जो दरिद्रता एवं अज्ञान के अगाध सागर में निरन्तर डूबते चले जा रहे हैं। मैंने अपने छोटे से जीवन में अनुभव किया है कि उत्तम लक्ष्य, निष्कपटता और अनन्त प्रेम से दुनिया को जीता जा सकता है।" वर्तमान युग को उनका यही सन्देश है। हमारा राष्ट्र स्वामीजी के इन शब्दों पर प्रतिदिन ध्यान करे, "मैं लोगों को सर्वत्र तब तक प्रेरणा देता रहूँगा, जब तक कि सम्पूर्ण जगत ईश्वर के साथ एकत्व की अनुभूति नहीं कर लेता।" — "माँ यदि पुनः ऐसे व्यक्ति प्रदान करें जिनके हृदय में साहस, हाथों में शक्ति तथा नेत्रों में अग्नि हो, जो जगदम्बा की सच्ची सन्तान हों — ऐसा यदि एक भी व्यक्ति वे मुझे दें, तो मैं काम करूँगा, पुनः वापस लौटूँगा; अन्यथा समझूँगा कि माँ की इच्छा केवल इतनी ही थी।" यदि हम नहीं उठे, नहीं जागे, तो अवसर खो देंगे। यदि हम उठे और जागे, तो लक्ष्य तक पहुँच जाएँगे। 'महिमामय भारत' ही वह लक्ष्य है, जिसे स्वामीजी ने राष्ट्र को प्रदान किया है।

(अंग्रेजी मासिक 'वेदान्त केसरी के १९८७ के वार्षिकाक से गृहीत तथा अनुवादित)

□

रामकृष्ण मिशन और मठ : एक अभिनव अध्यात्मगंगा

(अवतरण की पूर्व पीठिका)

स्वामी सत्यरूपानन्द

हिन्दू आध्यात्मिक परम्परा

भारतीय संस्कृति और इतिहास पर यदि हम एक विहंगम दृष्टि भी डालें, तो पायेंगे कि मुसलमानों के आक्रमण तथा साम्राज्य स्थापना के पूर्व इस देश की संस्कृति अत्यन्त विकसित तथा रचनात्मक थी। मानव जीवन के सभी पक्षों पर इस संस्कृति ने विचार तथा प्रयोग किये और सहस्रों वर्षों के अनुभव के आधार पर एक सुनियोजित प्रयोजनपूर्ण जीवन-पद्धति विकसित की; जिसका सम्यक् पालन कर मनुष्य अपने जीवन का परम प्रयोजन प्राप्त कृतार्थ हो सकता है।

आज प्राचीन भारत की यह संस्कृति हिन्दू संस्कृति तथा वह जीवन-पद्धति, जो इस संस्कृति में विकसित हुई, हिन्दू धर्म के नाम से परिचित है।

मौलिक आधार 'वेद'

हमारी आध्यात्मिक परम्परा के मूलस्रोत वेद हैं। हिन्दुओं की मान्यता है कि वेद अनादि और अपौरुषेथ हैं। अपौरुपेय इसलिए कि वेदों की रचना किसी पुरुष या व्यक्ति ने नहीं की है। वेद साक्षात् परमेश्वर द्वारा उद्‌भूत ज्ञान है और परमात्मा शाश्वत हैं, अतः वेदोक्त ज्ञान भी शाश्वत है।

वेदों को ऋषियों ने दो भागों में बाँटा है — (१) कर्मकाण्ड (२) ज्ञानकाण्ड। कर्मकाण्ड का लक्ष्य यज्ञादि अनुष्ठानों के द्वारा इहलोक और परलोक में स्वर्गादि सुखप्राप्ति है। इहलोक में पुत्र, धन, सम्पत्ति आदि की प्राप्ति के लिये विभिन्न यज्ञादि का अनुष्ठान करना तथा मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग में देवताओं के भोग भोगने के लिये विभिन्न प्रकार के अश्वमेध आदि यज्ञ करना। इसका अन्तिम लक्ष्य स्वर्गप्राप्ति है, निर्वाण या मोक्ष नहीं।

ज्ञानकाण्ड — वेदों के अन्तिम अध्यायों में जीव, आत्मा, ईश्वर, ब्रह्म, परम आनन्द पुनर्जन्म मोक्ष आदि गहन आध्यात्मिक तत्वों की चर्चा है। इन अन्तिम अध्यायों को वेदान्त या उपनिषद भी कहते हैं। इन अध्यायों में शुद्ध ज्ञान की चर्चा है। इनमें मानव जीवन का परमलक्ष्य आत्म-साक्षात्कार अथवा ब्रह्मज्ञान बताया गया है। ब्रह्मज्ञान के द्वारा ही जन्म-मृत्यु के चक्र में छुटकारा मिल सकता है।

ये उपनिषद ही सनातन हिन्दू धर्म की आधारशिला है। यही हमारी आध्यात्मिक

संस्कृति के उत्स है। हिन्दू धर्म इन्हीं उपनिषदों की शिक्षा और दर्शन पर टिका हुआ है। उपनिषदों में उन ऋषियों के अनुभव लिपिबद्ध हैं, जिन्होंने आत्म-साक्षात्कार किया था या जिन्हें ब्रह्मज्ञान हुआ था।

ईश्वर दर्शन या आत्मानुभूति — धर्म का आधार

सनातन धर्म का आधार ही ईश्वरदर्शन या आत्म-साक्षात्कार है। इसके पूर्व के सभी कर्मानुष्ठान धर्म में प्रतिष्ठित होने के साधन मात्र हैं। वास्तविक धर्म तो अनुभूति में ही है। स्वामी विवेकानन्द जी ने कहा है — अनुभूति ही धर्म है। स्वामीजी के गुरुभ्राता 'श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग' के महान लेखक श्रीमत् स्वामी सारदानन्दजी महाराज अपने ग्रन्थ में लिखते हैं — "भगवत् दर्शन पर ही भारतीय धर्म अवलम्बित है।"[१] भारतवर्ष ही क्यों संसार के सभी देशों के वे अवतार, मसीहा या महापुरुष, जिन्होंने लोगों को धर्म और आध्यात्मिकता की ओर प्रेरित किया, ऐसे ही महामानव थे जिन्होंने ईश्वर का साक्षात्कार किया था। ऐसे ईश्वरदृष्टा, आत्मज्ञानी महापुरुषों के द्वारा ही जनमानस धर्म और आध्यात्मिकता की ओर प्रेरित होता है।

अवतारों की परम्परा

अनादि काल से भारतवर्ष में ऐसे महापुरुषों की अक्षुण्ण परम्परा चली आ रही है, जिन्होंने ईश्वर का साक्षात्कार किया था। इन महापुरुषों को वैदिक युग में ऋषि कहा जाता था। कालान्तर में भक्तों ने उन्हें अवतार कहा। इस सम्बन्ध में स्वामी सारदानन्दजी लिखते हैं, "वैदिक युग के ऋषि ही कालक्रम से पौराणिक युग में ईश्वरावतार रूप से प्रख्यात हुए, यह बात स्पष्ट है।"[२]

किन्तु समाज के विचारशील तथा चिन्तन-परायण लोगों ने अपने अनुभव से यह देखा कि यद्यपि सभी ऋषियों में कुछ-न-कुछ अतींद्रिय आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त किये थे, किन्तु उनमें भी शक्ति का तारतम्य है। किसी किसी महापुरुष में अनुभवजन्य यह आध्यात्मिक शक्ति अत्यन्त प्रबल है, तो किसी में उसका अल्प ही प्रकाश दिखाई पड़ता है। स्वामी सारदानन्द जी लिखते हैं, "क्रमशः मानवों की बुद्धि और तुलना करने की शक्ति ज्यों-ज्यों बढ़ने लगी, उनका अनुभव भी तदनुरूप होने लगा और उन्हें यह ज्ञान हुआ कि ऋषियों में भी सभी समान नहीं हैं। आध्यात्मिक जगत् में कोई सूर्य सदृश्य है, कोई चन्द्र जैसे, कोई उज्ज्वल नक्षत्र की तरह और कोई सामान्य खद्योत की भाँति दीप्ति प्रदान कर प्रकाशित हो रहा है।"[३]

---

१. श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग, स्वामी सारदानन्द, प्रथम खंड, पृ. २

२. वही पृष्ठ २ ३. वही पृष्ठ २,३

इससे यह स्पष्ट होता है कि वह परम आध्यात्मिक सत्ता जो ब्रह्म, परमात्मा या ईश्वर के नाम से परिचित है, युग-युग में मानव जाति के कल्याणार्थ मनुष्य रूप में अवतरित होकर आध्यात्मिक और धार्मिक क्षेत्र में मनुष्य का मार्ग दर्शन करती है तथा काल के प्रभाव से आध्यात्मिक उपलब्धि के उपायों में आयी हुई विकृतियों तथा दोषों को दूरकर युग की आवश्यकता के अनुसार उनका नवीनीकरण कर धर्म संस्थापन करती है।[४]

हम भारतवासियों का यह परम सौभाग्य है कि हमारे देश में अनादि काल से अवतार और महापुरुष जन्म लेते रहे हैं। और उनके कारण हमारी आध्यात्मिक परम्परा एक जीवन्त प्रवाह है। स्वामी विवेकानन्दजी ने मद्रास के अपने एक प्रसिद्ध व्याख्यान में कहा है — "भारत में इतने महापुरुष पैदा हुए हैं कि उनकी गणना नहीं की जा सकती और महापुरुष पैदा करना छोड़ हजारों वर्षों से इस हिन्दू जाति ने और किया ही क्या है?"[५]

अवतार का प्रयोजन

हमने यह देखा कि ईश्वर का साक्षात्कार करनेवाले महापुरुषों में भी शक्ति के तारतम्य से भेद हैं। कुछ महापुरुष किसी एक सम्प्रदाय को प्रेरित कर उनका मार्ग दर्शन करते हैं; तो कुछ मुष्ठिमेय लोगों की ही सहायता कर पाते हैं। ऐसे महापुरुष सन्त और आचार्यों की श्रेणी में आते हैं। इनके पूत संग से इनके जीवनकाल में इनके निकट सम्पर्क में आनेवाले व्यक्तियों को आध्यात्मिक मार्गदर्शन मिलता है तथा उनका कल्याण होता है। इनके देहत्याग के पश्चात भी उनकी शिष्यपरम्परा तथा उपदेशों से कुछ लोग मार्गदर्शन प्राप्त करते रहते हैं। किन्तु इनका क्षेत्र सीमित होता है। समाज का बहुत बड़ा भाग इनके प्रभाव क्षेत्र से बाहर ही रह जाता है।

समाज के बहुसंख्यक लोगों में जब धर्म और आध्यात्मिकता के प्रति रुचि कम हो जाती है; लोग उस ओर से उदासीन हो मनमाना आचरण करने लग जाते हैं। समाज में भोगवाद, स्वार्थ और हिंसा प्रबल हो उठती है; उस समय समाज को सही दिशा प्रदान कर उसे पुनः नीति, धर्म और आध्यात्मिकता के मार्ग पर आरूढ़ करना किसी महापुरुष का कार्य नहीं है। उस समय तो स्वयं भगवान को देह धारण कर इस धराधाम पर आना पड़ता है तथा अपने जीवन और उपदेशों के द्वारा पुनः समाज में धर्म और आध्यात्मिकता की स्थापना करनी पड़ती है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की है —

---

४. तुलना कीजिये गीता ४/२-३

५. विवेकानन्द साहित्य, प्रथम रियायती संस्करण, पंचम खंड, पृ. १४३

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।

अभ्युत्थानं अधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।४।।७

— हे भारत, जब जव धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि हती है, तब-तब मैं स्वयं को (साकार रूप में) प्रगट करता हूँ।

यह तो भगवान के अवतार लेने का कारण है। उनके अवतार लेने का प्रयोजन क्या है? यह बात भी भगवान ने गीता में स्पष्ट रूपं से कही है —

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।

धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।।४।।८

— साधु पुरुषों का उद्धार करने तथा दुष्टों का विनाश करने के लिये और धर्म की स्थापना करने के लिये मैं युग-युग में अवतरित होता हूँ।

भगवान के अवतार के तीन प्रयोजन हैं — (१) साधु पुरुषों का उद्धार, (२) दुष्टों का विनाश और (३) धर्म की स्थापना।

ईश्वर के विभिन्न अवतारों की लीलाओं तथा उपदेशों पर जब हम दृष्टि डालते हैं, तो पाते हैं कि उन सभी के द्वारा अपने अवतारकाल में विभिन्न समय विभिन्न प्रकार से युगप्रयोजन के अनुसार इन विविध प्रयोजनों की पूर्ति हुई है।

भगवान श्रीराम से लेकर भगवान श्रीरामकृष्ण परमहंस तक के अवतारों की लीलाओं पर दृष्टि डाले, तो हम पायेंगे कि दुष्टविनाश का यह कार्य सदैव अस्त्र-शस्त्र के द्वारा ही हो, ऐसा आवश्यक नहीं है। शास्त्रों तथा विचारों द्वारा भी दुष्ट दमन और धर्म संस्थापन के कार्य सिद्ध हुए हैं।

भगवान श्रीकृष्ण ने यद्यपि दुष्टों का विनाश करने हेतु कई बार शस्त्र ग्रहण किया, किन्तु महाभारत के महाविनाश के समय उन्होंने न तो शस्त्र ग्रहण किया और न हि युद्ध किया। बुद्धावतार में तो अस्त्र-शस्त्र का नाम तक नहीं है। प्रेम करुणा तथा अहिंसा से अंगुलीमाल जैसे दुर्धष डाकू का हृदय परिवर्तन कर, उसकी दुष्टता समाप्त कर आध्यात्मिक साधक बना दिया गया। भगवान आदि शंकराचार्य भी अंशावतार थे। उन्होंने ज्ञान, विवेक, वैराग्य और तर्क के द्वारा दुष्ट दमन कर साधुओं का उद्धार किया। चैतन्य अवतार में भी विना अस्त्र-शस्त्र के केवल प्रेम और भक्ति द्वारा ही दुष्टों का हृदय परिवर्तन कर धर्म संस्थापना हुई तथा साधु और भक्तों का उद्धार हुआ।

आधुनिक युग में भी जब भगवान श्रीरामकृष्ण का अवतार हुआ, तब भी दुष्टों का दमन कर साधुओं का उद्धार और धर्म-संस्थापना के लिये अस्त्र-शस्त्रों की आवश्यकता नहीं थी। इस काल में अधर्म नास्तिकता और भोगवाद के रूप में

प्रवल हो उठा था। इस तथ्य को देखने के लिये भारत की तत्कालीन परिस्थितियों पर एक विहंगम दृष्टि डाल लेना समीचीन होगा।

भारत का पाश्चात्य जगत से सम्बन्ध

भारत तथा योरोप का सम्वन्ध अत्यन्त प्राचीन काल से रहा है। सिकन्दर के भारत-आक्रमण के बहुत पूर्व ही भारत के लोग यूनान आदि देशों में गये थे तथा उन देशों के लोग भारत आये थे। इन भारत यात्रियों से ही सिकन्दर ने भारत की समृद्धि तथा धन-सम्पदा के सम्वन्ध में सुना था। उस समय का भारत धन-धान्य और ज्ञान दोनों दृष्टियों से सम्पन्न तथा समृद्ध था। विदेशों में भारत सोने की चिड़िया कहा जाता था। सिकन्दर इसी लोभ से भारत आया था।

पुर्तगाल — किन्तु कालक्रम में यह सम्बन्ध शिथिल हो गया तथा इस्लाम के अभ्युदय के पश्चात जब अरब से सिंध तक मुसलमानी साम्राज्य स्थापित हो गया, तब तो यह सम्बन्ध एकदम ही टूट गया। इतना ही नहीं। दीर्घ काल तक सम्पर्क न रहने के कारण लोग भारत की भौगोलिक स्थिति तथा योरोप से भारत आने का रास्ता भी भूल गये। शताब्दियों तक भारत और योरोप का सम्वन्ध टूटा रहा। थोड़ा बहुत जो सम्वन्ध रहा, वह अरव व्यापारियों के विचौलेपन के कारण रहा प्रत्यक्ष नहीं।

१५ वीं शताब्दी के अन्त में प्रथम वार पुनः एक योरोपीय, पुर्तगाल का वास्को डि गामा अपने जहाजी वेड़े के साथ १४९८ ई. में केरल के कालीकट बन्दरगाह में आया। वह व्यापार की इच्छा से भारत आया था। मलावार तट के राजे-महाराजे तथा सरदारगण भी व्यापार के द्वारा धन कमाना चाहते थे, अतः उन्हें इस विदेशी का आना अच्छा लगा। गुजरात के नवाब ने इसका थोड़ा विरोध किया। कुछ लड़ाइयाँ भी हुईं, किन्तु अन्ततः सन् १५१० में पुर्तगालियों ने गोवा में अपना किला बना लिया।

हालैण्ड-निवासी डच — पुर्तगालियों के पश्चात डच लोग भारत आये। इन लोगों ने समुद्र पर अपना अधिकार जमा लिया। पुर्तगाली उनसे पीछे हो गये। डचों के भारत-आगमन तक पुर्तगाली पूर्वी भारत में भी पहुँच गये थे। वंगाल में उन्होंने अपनी व्यावसायिक कोठियाँ वना ली थीं। किन्तु १६४८ ई. में हालैण्ड और पुर्तगाल के वीच जो सन्धि हुई, उसके अनुसार पुर्तगाली गोवा, दमन और ड्यू को छोड़कर सारे भारत से हट गये।

डच लोगों की विशेष रुचि मसालों के व्यापार द्वारा धन कमाने में थी। वे लोग भारत में राज्य स्थापित नहीं करना चाहते थे। शीघ्र ही उन्होंने देखा कि

बोर्नियो, जावा, सुमात्रा आदि द्वीपों में मसाले बड़ी मात्रा में पाये जाते हैं, अतः उन लोगों ने उस ओर ध्यान दिया और भारत छोड़कर वे लोग उन द्वीपों में चले गये।

फ्रान्सीसियों का आगमन — डचों के बाद १८ वीं शताब्दी में फ्रान्स के लोग हमारे देश में आये। १७४१ में डूप्ले ने पांडिचेरी में फ्रांसीसी राज्य स्थापित किया। किन्तु उसका विस्तार न हो सका। भारत में फ्रान्स की सत्ता बहुत थोड़े से भाग में ही रह पाई। फ्रांसीसी संस्कृति का भारत में कोई विशेष प्रभाव नहीं हुआ।

अंगरेजों का आगमन — सन् १६०० ई. में इंग्लैण्ड में ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना हुई और ३ अंगरेज महारानी एलिजावेथ का एक पत्र लेकर अकबर के दरबार में उपस्थित हुये थे। अंगरेज यहाँ व्यापार करने आये थे। १६०८ में जहाँगीर ने उन्हें सूरत में कोठी बनाने की आज्ञा दे दी।

१६६० में अंगरेजों ने कलकत्ते में फोर्ट विलियम किले का निर्माण कर लिया। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् केन्द्रीय सत्ता दुर्बल हो गई। देशी राजे और नवाब आपस में लड़ने लगे। अंगरेजों ने इसका पूरा-पूरा लाभ उठाया। १७५७ में प्लासी के युद्ध में भारतीय पराजित हो गये और सारे भारत पर अंगरेजों की धाक जम गई। लार्ड क्लाइव ने दवाव डालकर अपनी शर्तें मंजूर करवा लीं। बंगाल, विहार और उड़ीसा की दीवानी अंगरेजों को मिल गई। इस प्रकार भारतवर्ष में अंगरेजों का राज हो गया, जो लगभग दो सौ वर्ष, १९४७ ई. तक चलता रहा।

योरोपियों का प्रभाव — आधुनिक काल में पुर्तगाली प्रथम योरोपवासी थे, जो भारत आये। वे लोग वर्वर और क्रूर थे। इस देश में जहाँ भी उनका प्रभाव था, उन लोगों ने भयकर अत्याचार किये। दिन-दहाड़े लूटमार करना, डाके डालना, स्त्री, पुरुष, बच्चों को पकड़कर गुलाम बना लेना, उनका व्यवसाय बन गया था।

पुर्तगाली ईसाई थे और बलपूर्वक अपने धर्म का प्रचार करना चाहते थे। उनकी क्रूरता और वर्वरता से भारतवासी आतंकित हो उठे थे, अतः उनके मन में पुर्तगालियों के साथ-साथ उनके धर्म के प्रति भी घृणा हो गई। इस कारण पुर्तगालियों की सभ्यता और संस्कृति का भारतीयों पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा।

हालैण्ड-निवासी डच तथा फ्रान्स के लोग भारत आये अवश्य, किन्तु उनका भारत के जनसाधारण से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रहा। अपने व्यापारिक लाभ के लिये उन्हें जितना सम्बन्ध वनाये रखना आवश्यक था उतना ही उन्होंने रखा। इस उद्देश्य से नवावों तथा राजाओं से उन लोगों ने थोड़े सम्बन्ध रखे। भारत में राज्य स्थापित करने में उनकी विशेष रुचि नहीं थी। इन कारणों से डच तथा फ्रांसीसी सभ्यता-संस्कृति का भी भारतवासियों पर कुछ विशेष प्रभाव नहीं पड़ा।

अंगरेजों का प्रभाव – पलासी के युद्ध में पराजय के पश्चात् भारत में कम्पनी का या अँगरेजों का राज हो गया। अब अंगरेज मात्र व्यापारी ही न रहे, अब वे शासक भी गये। अब भारतीय जनता अंगरेजों की प्रजा हो गई, इसलिये शासकजाति का उस पर प्रभाव अधिक पड़ने लगा। शासकों को प्रसन्न कर उनकी कृपा प्राप्त करने के लिये लोग उनकी नकल करने लगे। खान-पान, वेश-भूषा, चाल-ढ़ाल, भाषा, आदि सभी बातों में लोग अंगरेजों का अनुसरण करने लगे। लार्ड मेकाले द्वारा भारत में अंगरेजी शिक्षा प्रारम्भ करने के पहले भी हमारे देश में ऐसे भारतीय थे, जिन्होंने अंगरेजों के सम्पर्क में आकर अंगरेजी भाषा सीख ली थी तथा उस भाषा में व्यापार-व्यवसाय आदि का कार्य करते थे। ये लोग भारतीय तथा अंगरेजों के बीच दुभाषियों का काम भी करते थे। ये दुभाषिये अंगरेजी भाषा के साथ-साथ अंगरेजी सभ्यता से भी प्रभावित थे। इन बिचौलियों ने भी भारतीयों को आचरण-भ्रष्ट कर अंगरेज बनाने में कसर न रखी।[६]

अंगरेजी शिक्षा का प्रभाव – अंगरेजों के आधिपत्य के समय भी हमारे देश में शिक्षा का प्रचार था। मुसलमान शासकों की राजभाषा फारसी थी। अतः भारत में स्थान-स्थान पर मदरसे थे, जिसमें फारसी और अरबी पढ़ाई जाती थी। उसी प्रकार स्थान-स्थान पर संस्कृत पाठशालायें और टोल भी थे। मदरसों और पाठशालाओं में व्याकरण, साहित्य तथा धर्मशास्त्रों की शिक्षा दी जाती थी। किन्तु उनमें आधुनिक विद्याओं की शिक्षा की व्यवस्था नहीं थी।

मदरसों और पाठशालाओं में शिक्षित युवक अंगरेजों के व्यावहारिक वाणिज्य, व्यवसाय आदि अथवा शासन सम्बन्धी कार्यों के लिये उतने उपयुक्त नहीं होते थे। जब तक अंगरेजी शिक्षा की नियमित शासकीय व्यवस्था नहीं थी, तब तक अंगरेजों को व्यक्तिगत व्यवस्था के द्वारा ही कुछ भारतीयों को इस प्रकार शिक्षित करना पड़ता था या इन कार्यों के लिये अपने देश से आदमी लाने पड़ते थे।

भारतीयों को शिक्षा देने का विचार अंगरेज शासकों के मन में चल रहा था। वे लोग अंगरेजी शिक्षा द्वारा भारतीयों का मानस बदल कर उन्हें काले-अंगरेज बनाना चाहते थे। लार्ड मेकाले ने सोच-विचार कर एक ऐसी शिक्षा योजना बनाई, जिसे लागू कर भारतीयों को मन से अंगरेज बनाया जा सकता था। भले ही वे तन से भारतीय रहें।

१८३५ में लार्ड मेकाले के परामर्श से विलियम बेंटिक ने घोषणा की कि भारतीयों की शिक्षा का माध्यम अंगरेजी होगा। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घोषणा थी,

६. देखिये – संस्कृति के चार अध्याय, रामधारी सिंह दिनकर, पृष्ठ-४०२

क्योंकि अंगरेजी भाषा और शिक्षा के माध्यम से भारतीयों की मानसिकता में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। जिसका प्रभाव और परिणाम अभी तक बना हुआ है।

तत्कालीन भारत के बहुत से युवक और विचारशील लोग बड़ी संख्या में अंगरेजी भाषा तथा शिक्षा की ओर आकृष्ट हुये। और चूँकि भारतीयों में बुद्धि की कमी तो थी नहीं, उन्होंने शीघ्र ही अंगरेजी भाषा के साथ-साथ उनके इतिहास, समाजशास्त्र, दर्शन आदि पर भी अधिकार कर लिया।

योरोप में वह काल फ्रांस की राज्यक्रान्ति, इटली का नवजागरण, समाजवाद, आदि क्रान्तिकारी विचारों का काल था। समता, स्वाधीनता, भ्रातृत्व आदि का घोष, तथा विज्ञान के नवीन-नवीन आविष्कारों के सामने योरोप की अन्धविश्वासी और रूढ़िवादी धार्मिक आस्थायें चरमरा उठी थी। स्टुअर्ट, मिल, बेंथम आदि विचारकों और लेखकों की रचनायें भारत में आईं। उनके कारण अंगरेजी पढ़े-लिखे लोगों के मन-मस्तिष्क में नास्तिकता तथा तथाकथित प्रगतिशीलता की बाढ़ आ गई। वे लोग अपने धर्म, अपनी परम्पराओं की खिल्लियाँ उड़ाकर उसकी निन्दा करने लगे। मिथ्या तथा अन्धविश्वास कहकर सांस्कृतिक और धार्मिक मर्यादाओं को तोड़ने लगे। अंगरेजों के स्वर में स्वर मिलाकर उनका अनुसरण करते हुए मद्यपान, गोमांस-भक्षण आदि निषिद्ध कार्य को सरे-आम करने लगे। हिन्दू रीति रिवाजों को तोड़कर उच्छृंखल आचरण करने में ये लोग गर्व का अनुभव करने लगे। गुरुजनों की अवज्ञा, उनके सम्मुख अनुचित आचरण करना आदि मानो उनकी आचार-संहिता हो गई। भ्रष्ट-आचरण उनके शिक्षित और प्रगतिशील होने का मानो मापदण्ड हो गया।

ईसाई धर्म-प्रचारकों का प्रभाव

अंगरेजों के साथ-साथ ईसाई धर्म-प्रचारक भी इस देश में आये थे। इन धर्म-प्रचारकों ने इस समय आग में घी का काम किया। वे लोग सार्वजनिक रूप से बाजारों, स्कूलों, कॉलेजों आदि स्थानों में हिन्दू धर्म की खुलेआम निंदा करते थे। हिन्दू जीवन-पद्धति तथा रीति-रिवाजों को मूर्खतापूर्ण और अन्धविश्वास बताकर उनकी खिल्लियाँ उड़ाते तथा हिन्दू युवकों को उन रीति-रिवाजों को तोड़कर उच्छृंखल जीवन बिताने को उसकाते। अंगरेजी शिक्षा और सभ्यता का प्रभाव तथा इन पादरियों द्वारा हिन्दू धर्म की निन्दा आदि के कारण भारत में नवशिक्षित हिन्दुओं का एक बड़ा दल बन गया, जो कि स्वयं अपने धर्म, दर्शन और रीति-रिवाजों की निन्दा करने लगा। अखाद्य भक्षण, सार्वजनिक रूप से मदिरापान, गुरुजनों की अवहेलना, नास्तिकता, देवी-देवताओं की निन्दा करना आदि दुष्कृत्यों में प्रवृत्त होने

में ये लोग गर्व का अनुभव करने लगे थे। इस रूप में तत्कालीन हिन्दू समाज पर मानो एक प्राणघाती संकट उपस्थित हुआ था।[७]

विसंगति — ये तथाकथित शिक्षित हिन्दू युवक अपने धर्म की निन्दा करते तथा धर्मविरूद्ध आचरण कर यज्ञोपवीतफेंक देना, पूजा-पाठ आदि न करना तो करते थे, किन्तु सच्चा और शुद्ध धर्म क्या है इसका उन्हें एकदम ज्ञान नहीं था। इन लोगों ने न तो हिन्दू धर्मशास्त्रों को पढ़ा था और न ठीक से सुना था। इन्हें उस विषय का कोई ज्ञान नहीं था। उल्टे उनका आचरण उच्छृंखल और भ्रष्ट था।

कुण्ठाग्रस्त — ईसाई पादरी तो हमारे धर्म की निंदा कमर कस के कर ही रहे थे। अंगरेजी शिक्षित हिन्दू युवक भी उनके सुर-में-सुर मिलाकर हिन्दू जनता को और अधिक धिक्कार रहे थे। इसका परिणाम यह हुआ कि इस वितण्डा से बचने के लिये साधारण हिन्दू समाज लोकाचारों तथा रूढ़ियों में और अधिक जकड़ गया। किन्तु ऐसा होते हुए भी सामान्य हिन्दू को ऐसा नहीं लगा कि उनके धर्म में सभी कुछ व्यर्थ निन्द्य और त्याज्य है, इसलिये उसे त्यागकर नये धर्म को स्वीकार कर लेना चाहिये। अथवा नास्तिक और उच्छृंखल होकर भ्रष्ट-आचरण करने लगना चाहिये। परिणाम यह हुआ कि जनसाधारण इन नवशिक्षितों की ओर से उदासीन हो, रूढ़िवादी प्राणहीन अनुष्ठानों की कोठरी में बन्द हो गया।

अँगड़ाइयाँ — इन तथाकथित नवशिक्षितों तथा सरल धर्मभीरु हिन्दुओं के अतिरिक्त हिन्दू समाज का एक और भी वर्ग था, जो इन दोनों से भिन्न था। ये ऐसे विचारशील लोग थे, जिन्होंने पाश्चात्य सभ्यता, अंगरेजी रीति-रिवाजों, भाषा, दर्शन आदि को देखा, पढ़ा और उसे परखा। इन लोगों ने ईसाई पादरियों तथा शासक अंगरेजों की सभी बातों को आँखें मूंदकर स्वीकार नहीं कर लिया। उनके गुण-दोषों की समीक्षा की तथा उनके गुणों को सराहा। पादरियों आदि द्वारा की गई निंदा के परिपेक्ष्य में इन लोगों ने हिन्दू धर्म का भी पुनरावलोकन किया और वे लोग इस निष्कर्ष पर आये कि हिन्दू धर्म में सभी कुछ हीन और गर्हित ही नहीं है। यद्यपि इन महानुभावों को मूर्तिपूजा तथा लोकाचारिक कुछ अनुष्ठान आदि उचित नहीं लगे तथा इन्होंने मान लिया कि हिन्दू धर्म और समाज में कुछ दोष आ गये हैं और उनका निराकरण करना आवश्यक है। किन्तु इन लोगों में भी कोई ऐसा नहीं था, जो सम्पूर्ण हिन्दू धर्म को, उनके देव-देवियों, अवतारों, मूर्तिपूजा आदि के साथ स्वीकार कर के। (क्रमशः)

□

७. देखिये संस्कृति के चार अध्याय — दिनकर पृ. ४१० तथा ४२७

अमेरिका में रामकृष्ण मिशन

डॉ. सुनीतिकुमार चैटर्जी

सन् १८९३ में एक छोटी-सी घटना घटी। उस वर्ष एक साधनहीन और अज्ञात युवक भारत से शिकागो जा पहुँचा। वहाँ उस समय संसार का प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय धर्म-सम्मेलन हो रहा था। बड़ी कठिनाई से उस युवक को उस सम्मेलन में हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि के रूप में बोलने की अनुमति मिली। यह युवक स्वामी विवेकानन्द थे। उन्हें किसी हिन्दू संस्था ने अपना प्रतिनिधि बनाकर नहीं भेजा था। उस परदेश में उनके देशवासी भी उन्हें सन्देह की दृष्टि से देखते थे। किन्तु अपने दो-तीन भाषणों से ही उन्होंने सारे श्रोताओं को मंत्रमुग्ध कर दिया और उस समृद्ध तथा उन्नत देश के निवासियों तथा सभ्य पाश्चात्य लोगों के धार्मिक दृष्टिकोण में एक नये युग का प्रवर्तन कर दिया। संसार के अन्य धर्म केवल अपने धार्मिक ग्रन्थों की सत्यता को ही ईश्वर के समकक्ष मानते हैं — वे दूसरे धर्मों की बातों को असत्य समझते हैं। उनका विश्वास है कि केवल उन्हीं के धर्म द्वारा बताये हुए मार्ग, उन्हीं के धार्मिक सिद्धान्तों तथा विश्वासों के द्वारा परम सत्य तक पहुँचा जा सकता है। शेष सभी मार्ग, धार्मिक सिद्धान्त तथा विश्वास मिथ्या है। जब उन्होंने सुना कि परम सत्य को पाने का एक दूसरा और बिल्कुल भिन्न मार्ग भी है, तो उन्हें बड़ा मानसिक धक्का लगा। धर्मसम्मेलन के अपने अद्भुत व्याख्यानों में स्वामी विवेकानन्द ने उन श्रोताओं को धार्मिक तत्त्वों पर विचार करने का एक नया उपाय बतलाया। इन श्रोताओं में अधिकतर वे सनातनी ईसाई, यहूदी और कुछ अन्य धर्मावलम्बी थे, जो सहज भाव से यह सोचकर निश्चिन्त बैठे थे कि हमारी मुक्ति और हमारा पारलौकिक भविष्य निश्चित है, क्योंकि केवल हमीं ईश्वर के सच्चे धर्म के एकमात्र उत्तराधिकारी हैं। उन्हें इस बात का भी निश्चय था कि संसार के अन्य धार्मिक विषयों की आध्यात्मिक दशा खराब है, क्योंकि वे सच्चे मार्ग से भटक गये हैं। उन पर ईश्वर की अनुकम्पा नहीं है, क्योंकि उन्हें उन लोगों के बीच जन्म लेना पड़ा है, जिनका धर्म मिथ्या है।

विचारशीलता की एक शान्त और हल्की आवाज मानो दिव्यलोक से आयी, जो स्वामी विवेकानन्द के मुख से ऐसी शंखध्वनि के रूप में निकली कि उसने तन्द्रा में पड़े लोगों को सजग कर दिया और उन विचारशील लोगों में जिज्ञासा उत्पन्न कर

दी, जिनमें तत्वज्ञान को गहराई और विस्तार से देखने की क्षमता थी। जहाँ जहाँ स्वामी विवेकानन्द का सन्देश पहुँचा, वहाँ वहाँ थोड़े से विचारशील लोगों की विचारशैली बदलने लगी। अवश्य ही उनका बड़ा कड़ा विरोध हुआ — विशेषकर उन स्थानों में, जहाँ कट्टर विश्वासों और पूजाचर्या से निहित स्वार्थों का गठबन्धन हो गया था। इन बातों में पुरानी आदतें भी आगे आयीं, क्योंकि जो लोग किसी पिटे-पिटाये मार्ग पर चलने के आदी हो जाते हैं, उन्हें लीक छोड़ना कठिन लगता है। कुछ लोगों में यह आत्मछलना भी थी कि गोरे लोग सभी बातों में दूसरे लोगों से श्रेष्ठ होते हैं। जिस प्रकार वे भौतिकया आर्थिक जगत तथा भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में सफल हुए हैं, उसी प्रकार मस्तिष्क और आत्मा के क्षेत्र में भी वे श्रेष्ठ हैं। धार्मिक मामलों और धार्मिक दृष्टिकोण को विचारपूर्ण युक्तियुक्त ढंग से देखने में उपरोक्त बातें प्रायः स्थायी बाधायें रही हैं। वहाँ के कुछ लोगों को यह देखकर आशंका और क्षोभ हुआ कि ईश्वर के अपने प्रिय देश में, सुदूर भारत के 'हीदन लोगों' का एक विदेशी धर्म बढ़ रहा है। जब स्वामी विवेकानन्द ने रामकृष्ण मिशन की स्थापना की और जब उस मिशन के स्वामियों का पहला दल अमरीका पहुँचकर वहाँ श्रीरामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द द्वारा अनुमोदित व्याख्या के अनुसार भारत के प्राचीन वेदान्त-दर्शन का प्रचार करने लगा, तो चारों ओर से उनका प्रत्यक्ष और परोक्ष विरोध हुआ। किन्तु जो लोग उनका विरोध करने को संगठित हो रहे थे, उन्होंने एक विचित्र बात देखी। उनके सामने ऐसे 'मिशनरी' थे, जो एक विशेष धार्मिक दृष्टिकोण लेकर धर्म का प्रचार करने आये थे, किन्तु जो न तो किसी का धर्म-परिवर्तन कराना चाहते थे और न किसी 'भटकी हुई आत्मा' को अपने धर्म में लाकर उसका उद्धार करने का दावा ही करते थे। उन्होंने स्पष्ट रूप से घोषित कर दिया था कि हमारा उद्देश्य किसी का धर्मान्तरण करना नहीं है। इस आन्दोलन के महान संस्थापक स्वामी विवेकानन्द ने अपने शिकागो के भाषण में स्पष्ट रूप से कहा था कि मैं यह कदापि नहीं चाहता कि कोई ईसाई हिन्दू हो जाय, और इसी प्रकार मैं यह भी नहीं चाहता कि कोई हिन्दू या बौद्ध ईसाई हो जाय। इस प्रकार अमेरिका में एक विचित्र प्रकार की मिशनरी संस्था का प्रादुर्भाव हुआ, जिसने धर्मान्तरण कराने के लिए प्रचार न करने की विधिवत घोषणा कर दी थी। आश्चर्यचकित अमेरिकावासियों को उन्होंने जो सन्देश दिया और जो वे बराबर देते जा रहे हैं, वही भारत का सनातन सन्देश है, जो कि वेदों के समय से चला आ रहा है। वह

सन्देश है — **'एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति'** — 'सत्य एक ही है, ज्ञानियों ने उसी को नाना प्रकार से कहा है।'

पिछली शती में भारत में एक महात्मा का आविर्भाव हुआ। वे आधुनिक युग के अत्यन्त पहुँचे हुए महात्मा थे। उनका नाम था रामकृष्ण परमहंस। उन्होंने अपने जीवन में कई विभिन्न धर्मों के विश्वासों और क्रियाओं का अनुभव किया। ऐसा जान पड़ता है कि इस कार्य में उन्हें सफलता भी मिली। उन्होंने प्राचीन वैदिक संदेश ही संसार को नये रूप में दिया। उन्होंने कहा — "जितने मत, उतने पथ।" यह सरल और सीधा-सादा सन्देश सारी मानवता की सार्वभौमिक सहज बुद्धि पर आधारित है। जब उस सन्देश को श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द के विश्वास, तर्क, शक्ति और प्रेरणा का बल मिला, तो इससे पश्चिम के उन लोगों को विचार करने का एक नया मार्ग प्राप्त हुआ, जो परम सत्य जानने को उत्सुक थे। इस प्रकार वहाँ के लोगों का धीरे धीरे, किन्तु पुष्ट रूप से मत-परिवर्तन होने लगा।

रामकृष्ण मिशन के कार्यकर्ता साधु या संन्यासी है, जिन्होंने अपना जीवन इस कार्य के लिए समर्पित कर दिया है। स्वामी विवेकानन्द की कल्पना के अनुसार इन्होंने दो तरह के काम करने आरम्भ किये। भारत की हिन्दू जनता में ये हिन्दू धर्म तथा दर्शन के मौलिक तत्त्वों का प्रचार करते हैं और श्रीरामकृष्ण तथा स्वामी विवेकानन्द के उपदेशों के अनुसार सभी धर्मों के लोगों में वेदान्त की व्याख्या करते हैं। भारत में उनके कार्य का यह एक अंग था — आध्यात्मिक उपदेश और मार्गदर्शन। उनके काम का दूसरा अंग जनता की सेवा है। इसके लिए वे अस्पताल, अनाथालय आदि चलाते हैं और अकाल, बाढ़ आदि के समय पीड़ितों की सहायता का प्रबन्ध करते हैं। एक ओर तो वे मनुष्य की सुषुप्त आत्मा को जगाकर, उसे यह बोध कराने का प्रयत्न करते हैं कि जीव अन्ततः ईश्वर का ही अंश हैं — वह (जीव) ही ईश्वर है। दूसरी ओर वे पीड़ित मानवता की सेवा के माध्यम से ईश्वर की आराधना करते हैं और दरिद्र, दलित, रोगी तथा असहाय लोगों की सहायता करके धर्म को व्यावहारिक रूप देते हैं।

स्वामी विवेकानन्द ने कई नये शब्द गढ़े। उनमें एक शब्द था — 'दरिद्रनारायण'। यह संस्कृत का शब्द सभी भारतीय भाषाओं में चल सकता है। इसका अर्थ है — 'गरीबों में बसनेवाला ईश्वर' या 'निर्धन, जो ईश्वर का एक रूप है', जिनकी सेवा करना हमारा धर्म है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि जो

अपने से बाहर या अपने से दूर जाकर, ईश्वर की खोज करता है, वह भ्रम में है। उसके सामने ईश्वर स्वयं सहायतापेक्षी निर्धनों तथा पीड़ितों के रूप में मौजूद है। स्वामी विवेकानन्द सब लोगों की समानता का उपदेश देते थे। वे वेदान्त-दर्शन के माध्यम से इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे। सब लोग समान हैं, क्योंकि सभी उस सच्चिदानन्द परमात्मा के अंश हैं और इसलिए किसी को भी छोटा नहीं समझा जा सकता। यह सिद्धान्त संस्कृत की इस कहावत में विहित है — **'यत्र जीवस्तत्र शिवः'**। इसीलिए स्वामी विवेकानन्द को 'अस्पृश्यता' की भावना से बड़ी चिढ़ थी। यह भावना हिन्दू धर्म में उन दिनों उत्पन्न हुई जिन दिनों उसका अधःपतन हो रहा था।

भारत में वे जोर देकर कहा करते थे कि यहाँ निम्नवर्ग के लोगों को मानविक अधिकार से वंचित रखा जाता है, यहाँ जनता के भोजन तथा शिक्षा का प्रबन्ध आवश्यक है, ताकि उसके जीवन का स्तर उठे, क्योंकि उसके बिना लोगों को आध्यात्मिक बातों का उपदेश नहीं दिया जा सकता। इसलिए धर्मोपदेशक तथा समाज-सुधारक के रूप में इस देश के प्रति उनका कहना था कि यहाँ उपदेश और जनता की सेवा साथ साथ होनी चाहिए। अमेरिका के समान सुसंगठित और समृद्ध देश में उनके उपदेश की यह दूसरी बात व्यर्थ थी, क्योंकि वहाँ निर्धनता न होने के कारण इस प्रकार की जनसेवा की आवश्यकता ही नहीं थी। वहाँ के लोगों को यह समझाने की आवश्यकता थी कि वे किस प्रकार एक अच्छे आध्यात्मिक जीवन की उपलब्धि कर सकते हैं। संसार के सब धर्मों के अच्छे उपदेशों पर चलकर यह जीवन प्राप्त किया जा सकता है। और इस मामले में यह याद रखना बड़ा महत्त्वपूर्ण तथा आवश्यक है कि ईश्वर की अपनी प्यारी कोई जातिविशेष नहीं है और न ही ईश्वर किसी धर्मविशेष के लोगों को औरों से अच्छा समझता है।

अमेरिका में रामकृष्ण मिशन के संन्यासियों ने स्वामी विवेकानन्द का अनुसरण किया। ये लोग जब अमेरिका पहुँचे, तो एकदम साधनहीन थे। निर्धन तथा असंगठित भारत में न तो धनी लोग ही थे और न धनी हिन्दू संस्थाएँ ही थी, जो उनकी सहायता करतीं। उस अपरिचित देश में उनका एकमात्र सम्बल वे मुट्ठी भर लोग थे, जिन्होंने स्वामी विवेकानन्द के उपदेशों का महत्त्व समझा था और जो वेदान्त द्वारा प्रतिपादित सार्वभौमिकता का मूल्य समझते थे। आधी शती से अधिक वे जिज्ञासुओं के निमंत्रण पर अमरीका के भिन्न भिन्न केन्द्रों में उपदेश तथा सेवा का कार्य करते रहे और इस बीच उन्हें वहाँ आश्चर्यजनक सफलता मिली। उन्होंने

कभी यह प्रचार नहीं किया कि हिन्दू धर्म और धर्मों से श्रेष्ठ है। दूसरे धर्मों के स्थायी और सार्वभौमिक तत्त्वों को वे मुक्त कण्ठ से स्वीकार कर लेते थे। उन्होंने जोर देकर बराबर कहा कि वे यह नहीं मानते कि किसी विशेष सिद्धान्त या विश्वास को ही मानने से ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त हो सकता है। संसार के अधिकांश प्रचलित धर्म उनसे सहमत नहीं है, किन्तु यह बात भारतीय भावना के बिल्कुल विपरीत है। जैसा कि डॉ. राधाकृष्णन् ने कहा है, "वे एक असम्भव काम करना चाहते हैं।" रामकृष्ण मिशन के संन्यासियों ने लोगों से कहा, "हृदय से अपने धर्म के मौलिक सिद्धान्तों का भरसक पालन करो।" वे जिज्ञासुओं को वेदान्त-दर्शन के तत्त्व समझाते थे, किन्तु इस बात पर वे बराबर बल देते थे कि सभी धर्मों के मौलिक तत्त्व एक ही है। वे इस बात को भी समझाते थे कि भारतीय दृष्टिकोण में — और विशेषकर वेदान्त में — विरोधी तत्त्वों को एक करके उनमें सामंजस्य स्थापित करने और उन्हें मानवतावादी बनाने की जितनी क्षमता है, उतनी और किसी प्रचलित धर्म में नहीं है। जो लोग वेदान्त के सिद्धान्तों को मानकर उनका और अधिक ज्ञान प्राप्त करना चाहते, वे रामकृष्ण-स्वाध्याय-मण्डल के सदस्य बना लिये जाते थे। किन्तु औपचारिक रूप से किसी का धर्मान्तरण नहीं किया जाता था। कुछ लोग (जिनकी संख्या अत्यल्प थी) भारतीय संन्यासियों के जीवन से प्रभावित होकर संन्यासी होना चाहते थे। उन्हें काफी काल तक ब्रह्मचारी का कठोर जीवन व्यतीत करना पड़ता तथा जब वे उसमें खरे उतरते, तब वे संन्यासी बना लिये जाते और स्वाध्याय तथा सतत साधना करके वे ईश्वर और मनुष्य की सेवा का व्रत लेते थे।

इन आदर्शों और कार्यक्रमों के फलस्वरूप धीरे धीरे रामकृष्ण मिशन का प्रभाव बढ़ता जा रहा है। भारत में हिन्दूधर्म की यही एकमात्र संस्था है, जो श्रीरामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द द्वारा प्रतिपादित इस युग के उपयुक्त वेदान्त के मूल तत्त्वों का प्रचार करती है। जो लोग हिन्दू धर्म और हिन्दू दर्शन के मौलिक तत्त्व समझना तथा हिन्दू धर्म का इतिहास जानना चाहते हैं या जो वेदान्त की साधना करना चाहते हैं, वे रामकृष्ण मिशन के स्वामियों के पास जाते हैं। इन स्वामियों के हृदय में धर्म की पवित्र अग्नि प्रज्वलित है, जिसने उनके सांसारिक सुख-भोग की कामनाओं को भस्म कर दिया है। ये स्वामी अधिकतर बड़े विद्वान होते हैं। उन्हें धार्मिक ग्रंथों का ज्ञान ही नहीं, उनमें उनके व्याख्या करने की भी योग्यता है। उनमें विद्या ही नहीं, विश्वास और श्रद्धा भी है। भारत के ये संन्यासी

संसार के सभी देशों में अपना प्रभाव फैला रहे हैं। भारत के बाहर इंग्लैण्ड, फ्रांस अमरीका, मलाया आदि देशों में ये संन्यासी काम कर रहे हैं। वहाँ वे भारतीय दर्शन और विचार की शिक्षा देते हैं और धर्म के तत्त्वों को समझने-समझाने का हार्दिक प्रयत्न करते हैं। मलाया जैसे देशों में वे दरिद्र और दलित जनता को उठाने का भी काम करते हैं। ये स्वामी दक्षिण अमेरिका में भी कार्य कर रहे हैं। किन्तु उनका सबसे बड़ा कार्य-क्षेत्र अमेरिका हैं, जहाँ उनके केन्द्र सबसे अधिक है। अमेरिका एक महान तथा जिज्ञासु देश है। वहाँ के लोग तरह तरह के प्रयोग करने और नये अनुभव प्राप्त करने को उत्सुक रहते हैं। अपने व्यक्तित्व तथा उच्च चरित्र, अपनीविद्वत्ता, अपनी वाग्मिता, अपनी संगठन करने की योग्यता और (सबसे अधिक) अपने सक्रिय आदर्शवाद, अपनी ज्वलन्त निष्ठा और अपनी गम्भीर श्रद्धा तथा विश्वास के कारण इन संन्यासियों या 'स्वामियों' ने धीरे धीरे पाश्चात्य धर्मों और विचारों से प्रभावित देशों में भारतीय विचारधारा के अनुसार प्रगतिशील धार्मिक विचारों के लिए एक निश्चित स्थान बना दिया है।

भारत में हमें इस बात का ठीक ठीक ज्ञान नहीं कि उन्हें वहाँ कितनी सफलता मिली है। इन स्वामियों ने भारत और अमेरिका में उपनिषदों, गीता तथा दर्शन के प्रामाणिक संस्कृत ग्रंथों का अनुवाद किया। वे इन ग्रंथों की इस प्रकार व्याख्या करते रहते हैं कि उनसे इस आधुनिक परिवर्तनशील संसार में विद्वानों को अपनी व्यक्तिगत तथा राष्ट्रीय समस्याओं के हल करने में सहायता मिले। वे व्यावहारिक धर्म और साधना के बारे में भी बराबर शिक्षा देते रहते हैं। उन्होंने अपनी साहित्यिक प्रतिभा की सहायता से उपनिषदों तथा 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' के अंग्रेजी भाषा में ललित अनुवाद किये हैं। उनके ये सब कार्य धीरे धीरे लोगों के सामने आ रहे हैं, देखने ही से विश्वास होता है। और यदि कोई भारतवासी पेरिस, लंदन, टोक्यो या अमेरिका के बड़े नगरों में जाकर देखे, तो उसे उनके कार्य की महत्ता का बोध होगा।

मैं उन विशाल और अद्‌भुत केन्द्रों के बारे में कुछ नहीं कहूँगा, जो असंख्य धन लगाकर खड़े किये गये हैं और जिनमें वेदान्त का ज्ञान और उसके व्याहारिक उपयोग का प्रचार किया जाता है। उदाहरण के लिए, सैनफ्रांसिस्को के वेदान्त-केन्द्र का नाम लिया जा सकता है, जो पाँच लाख डालरों (प्रायः एक करोड़ रुपयों) की लागत से बनाया गया है और जिसके साथ एक हजार एकड़ का वन लगा है, जो

सैनफ्रांसिस्को के उत्तर में गोल्डन गेट (वहां के बन्दरगाह के मुहाने) पर स्थित है। यहाँ वेदान्त के साधकों के लिए छोटे-छोटे कुटीर बनाये जायेंगे। मैंने अमेरिकी ब्रह्मचारियों को घण्टों ध्यान करते और कड़ी मेहनत के काम करते देखा है। साथ-ही-साथ वे अपनी जिज्ञासाओं को शान्त भी करते हैं और अपनी आध्यात्मिक उन्नति के लिए वेदान्त के दार्शनिक सिद्धान्तों का अध्ययन भी करते हैं।

न्यूयार्क, सैनफ्रांसिस्को, लॉस एंजिल्स तथा अमेरिका के अन्य नगरों में वहाँ के कितने ही मेधावी व्यक्ति इन स्वामियों के कार्य में सक्रिय रूप से हाथ बँटाते हैं। ऐसे लोगों में डॉ. आल्डस हक्सले का नाम लिया जा सकता है, जिन्होंने वेदान्त के मौलिक सिद्धान्तों पर कई निबन्ध लिखे हैं। गीता के अनुवाद में उन्होंने 'पेरिन्नियल रेलिजन' (सनातन धर्म) शीर्षक से जो भूमिका लिखी हैं, उसमें वेदान्त के दार्शनिक तत्त्वों का अच्छा विवेचन है। दूसरे व्यक्ति क्रिस्टोफर ईशरवुड है, जो डॉ. हक्सले की ही तरह लॉस एंजिल्स (हालीवुड?) में स्वामी प्रभवानन्द के साथ सहयोग कर रहे है। और इसी प्रकार के व्यक्ति प्रसिद्ध और महान लेखक समरसैट मॉम थे। अभी हाल ही में हालीवुड में एक लोकप्रिय मेला हुआ था, जिसमें सामान्य जनता को विभिन्न धर्मों का स्वरूप समझाया गया था। दो पीढ़ियों पहले ऐसे अवसरों पर हिन्दू धर्म की व्याख्या करने के लिए हिन्दू धर्मों के तत्त्वों से नितान्त अनभिज्ञ ईसाई मिशनरी ही बुलाये जाते थे। किन्तु अब यह सम्भव नहीं है। इस अवसर पर वहाँ हिन्दू धर्म का सच्चा स्वरूप बतलाया गया कि वह एक सहिष्णु धर्म है। वहाँ यह भी बतलाया गया कि अमेरिका की संस्कृत विचार-सरणी पर उसका कितना अच्छा प्रभाव पड़ रहा है। कुछ दिन हुए अमेरिका की 'लाइफ' नामक प्रसिद्ध पत्रिका ने अपने पाँच अंकों में संसार के पाँच महान धर्मों का विवरण छापा था। उसमें जिस ढंग से हिन्दू धर्म का वर्णन किया गया था, उसे पढ़कर अमेरिकन लोगों की निष्पक्षता और विवेक की प्रशंसा करनी पड़ती है। अब वहाँ के आधुनिक लेखकों की कृतियों में वे बातें मिलती हैं, जिनका उपदेश स्वामी विवेकानन्द ने किया था। उदाहरण के लिए, डी. एच. लारेंस का उपन्यास, 'दि प्लूम्ड सर्पेण्ट' को ही लीजिए। इसमें उपन्यास का नायक रैमो, एक रोमन कैथलिक विशप के सामने, आधुनिक मानव के लिए एक ऐसे सार्वभौमिक धर्म (युनिवर्सल चर्च) की आवश्यकता बड़े जोश के साथ बतलाता है, जिसमें मानवता के सभी महान उपदेशकों की बातें सुनी जा

सकेंगी। उसका यह कहना भी स्वामी विवेकानन्द के उपदेशों का प्रत्यक्ष प्रभाव है कि विभिन्न धर्म विभिन्न भाषाओं के समान है। वे विचार स्वामी विवेकानन्द के उन उपदेशों की प्रतिध्वनि मात्र है, जो उन्होंने अमेरिका तथा अन्य पाश्चात्य देशों में दिये थे।

इन सब सफलताओं का मुख्य श्रेय स्वामी विवेकानन्द की प्रतिभा और प्रेरणा को है। सन् १८९३ ई. में जब स्वामीजी यह बतलाने के लिए खड़े हुए कि हिन्दू धर्म क्या है — तब वह एक नयी वस्तु थी, एक नवीन चमत्कार था। उनके पहले किसी ने उस तरह यह समझाने का प्रयत्न नहीं किया था कि ऐतिहासिक विकास में हिन्दू धर्म की मौलिक कल्पना क्या है और इस युग में उसका क्या व्यावहारिक उपयोग है। उनकी महान शिष्या भगिनी निवेदिता ने ठीक ही कहा है कि जब स्वामीजी ने इस बात की व्याख्या की कि हिन्दू धर्म क्या है, तब हिन्दू धर्म का जन्म हुआ। इस कथन का तात्पर्य यह है कि तब लोगों को मालूम हुआ कि वह (हिन्दूधर्म) जीवन की एक विधि है और उसकी विचारशैली में एक ऐसी विशिष्टता है, जो अपनी महानता और श्रेष्ठता में अनुपम है।

स्वामीजी के मस्तिष्क का विकास अनोखे ढंग से हुआ था। आरम्भ में वे एक अस्थिर चित्त के युवक थे, जिन्हे आधुनिक अंग्रेजी शिक्षा मिली थी। वे ईश्वर को जानना और उसका साक्षात्कार करना चाहते थे। इसलिए उनके ह्रदय में शान्ति नहीं थी और उन्हें इसका उपाय नहीं सूझता था। संयोग से वे श्रीरामकृष्ण परमहंस के सम्पर्क में आये और इस महान सन्त के सम्पर्क के कारण उन्हें यह वस्तु मिल गयी, जिसे उनकी आत्मा चाहती थी। उन्हें सिद्धि प्राप्त हो गयी। फिर उन्होंने सारे भारत का भ्रमण किया। उन्होंने भारतीय जीवन की यह विषमता देखी कि एक ओर तो दार्शनिकता और मनुष्य के ईश्वर का अंश होने की गम्भीर चेतना है और दूसरी ओर उपेक्षित तथा दलित जनता की अवर्णनीय दुरवस्था है। इससे उनके मन की अशान्ति और बढ़ गयी। हिमालय से वे कन्याकुमारी गये। वहाँ दक्षिण भारत की धरती के छोर से कुछ दूर समुद्र में निकली हुई उन्होंने दो चट्टानें देखीं और उनमें से एक चट्टान पर बैठकर उन्होंने सारे भारत को अपने सामने पाया। वे इस दृश्य पर विचार करने लगे। यह चट्टान अब उनके नाम पर 'विवेकानन्द शिला' कहलाती है।

वहाँ उन्हें इस बात की प्रेरणा हुई कि मैं भारत के बाहर जाकर भारत के आदर्शों तथा सन्देश को सारे संसार को सुनाऊँ। शान्ति और सौहार्द का यह सन्देश वही है, जो वेदान्त की वाणी है और जो कहता है कि वस्तुओं की मौलिक एकता का साक्षात्कार करने से ही शान्ति और सौहार्द प्राप्त किये जा सकते हैं। दक्षिण भारत के कुछ मित्रों और अपने शिष्य तथा अनन्य प्रशंसक खेतड़ीनरेश की सहायता से वे मलाया, चीन तथा जापान होते हुए अमेरिका जा पहुँचे। अमेरिका में वे वहाँ के ओजस्वी, पुरुषार्थी तथा प्रगतिशील निवासियों के सम्पर्क में आये, जो अपनी भौतिक समृद्धि, सफलता तथा उन्नति के मद में चूर थे, किन्तु जिनकी धार्मिक मामलों की समझ और आध्यात्मिक बोधक्षमता प्रायः आरम्भिक अवस्था की थी। फ़िर भी, अमेरिका में उन्हें कुछ ऐसे समानधर्मा लोग मिले, जो अपने देश के औसत शिक्षित लोगों से कहीं आगे थे। हमें यह याद रखना चाहिए कि अमेरिका में टामस जैफर्सन, राल्फ वाल्डो इमर्सन, हैनरी थोरो और वाल्ट ह्विटमैन के समान महान मानवतावादी हो चुके थे। अमेरिका में एकेश्वरवादियों का भी एक शक्तिशाली सम्प्रदाय था। मानव जाति का अत्यन्त सुसंस्कृत अंचल होने के कारण अमेरिका में ऐसे लोगों की कमी नहीं थी, जो स्वामी विवेकानन्द द्वारा प्रस्तुत वेदान्त के दृष्टिकोण को समझ सकें। वहाँ कुछ ऐसे श्रद्धावान शिष्यों का दल बन गया, जो उनके साथ बराबर रहता और जहाँ जहाँ वे जाते, वहाँ जाकर उनके वचनामृत का पान करता। अमेरिका में दो वर्ष रहने के बाद उन्हें और भी विस्तृत कार्यक्षेत्र मिल गया। वे काम में जुट गये। सतत यात्रा करने, भाषण और उपदेश देने और उन लोगों को परामर्श देने में (जो उनसे तथा भारत की आत्मा से मार्गदर्शन चाहते थे) उन्होंने कभी कोताही नहीं की।

अपनी यात्रा के दौरान उन्हें अनेक स्थानों में जाना पड़ा। उसी सिलसिले में एक बार वे न्यूयार्क स्टेट के एक देहाती स्थान में भी जा पहुँचे। उस स्थान को थाऊजैण्ड आईलैण्ड पार्क (सहस्रद्वीपोद्यान) कहते हैं। उनके मित्रों ने उनसे वहाँ कुछ विश्राम करने का अनुरोध किया, ताकि वे भविष्य के काम के लिए कुछ शक्ति संचित कर सकें। वे स्वयं भी थकावट का अनुभव कर रहे थे और विश्राम चाहते थे। सेण्टलारेंस नदी अमेरिका और कनाडा के बीच की सीमा है। इसके निचले भाग में छोटे-बड़े प्रायः १७०० द्वीप पड़ गये हैं। इनमें से बहुत से जनशून्य है।

किन्तु इनमें से बहुतों में धनी लोगों ने ग्रीष्म ऋतु में अपने विश्राम के लिए ग्रीष्मावास बना लिये हैं। इनमें जो सबसे बड़ा द्वीप है, उसके एक गाँव का नाम थाउजैण्ड आईलैण्ड पार्क (सहस्रद्वीपोद्यान) है। जब आज से ६७[1] वर्ष पहले स्वामीजी वहाँ गये, तब वहाँ इतनी भीड़भाड़ नहीं थी। वहाँ वे अपने एक शिष्या के घर में सात सप्ताह रहे। उनके साथ उनके कुछ अनन्य भक्त तथा शिष्य भी थे। वे वहाँ उनसे मिलते, बातें करते और उन्हें उपदेश देते। तभी उनके कुछ शिष्यों को एक बड़ी अच्छी बात सूझी। उन्होंने स्वामीजी के अधिकांश कक्षाओं तथा वार्तालापों को लिपिबद्ध कर लिया। उन उपदेशों का अनुलिखन अब 'देववाणी' (Inspired Talks) नामक पुस्तक में उपलब्ध है। स्वामीजी को विश्राम और स्वास्थ्य-लाभ की आवश्यकता थी। इस स्थान का वातावरण हिमालय के आश्रमों के समान है। यहाँ उन्हें विश्राम मिला और लाभ हुआ सहस्रद्वीप पार्क के निवासकाल के दौरान उन्होंने भारत की सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक समस्याओं पर विचार करके उनके समाधान निकाले। कहा जाता है कि रामकृष्ण मिशन की स्थापना का विचार उनके हृदय में इसी पार्क में उदय हुआ था। यहाँ उन्होंने अपने कुछ अत्यन्त शक्तिशाली भाषण दिये और कुछ अत्यन्त उत्कृष्ट कृतियाँ लिखीं। यहीं उन्होंने 'सांग आफ दि सन्यासिन्' (संन्यासी का गीत) नामक अंग्रेजी कविता लिखी थी।

इस स्थान में सुन्दर वृक्षावली है, जिनमें चिनार, ओक, देवदार आदि के वृक्षों की वहुतायत है। धरती पथरीली है, जिसमें जहाँ-तहाँ चट्टानें उभर आयी हैं। इनमें कुछ चट्टानें काफी बड़ी और समतल हैं। मकान की सीमा के भीतर ही एक ऐसी चट्टान है। उस पर जंगली फूल उग आते हैं। बैठने और ध्यान करने के लिए वह बड़ा उपयुक्त है। मकान से कुछ ही दूर पर एक पथरीला मैदान है, जहाँ स्वामीजी बहुधा जाया करते थे और एक ओक वृक्ष के नीचे बैठकर ध्यान किया करते थे। इस मैदान की ऊँची चट्टानों से सेंट लारेंस नदी और उसके हरे-भरे द्वीपों का बड़ा सुन्दर दृश्य दिखलाई पड़ता है। चट्टानों, पेड़ों तथा नदी ने मिलकर इसे एक आदर्श स्थान बना दिया है।

जिस मकान में स्वामीजी ठहरे थे, वह वहुत दिनों उपेक्षित रहा। किन्तु अब स्वामी निखिलानन्द तथा मिशन के अन्य सदस्यों के प्रयत्न से इसे न्यूयार्क की 'रामकृष्ण-विवेकानन्द वेदान्त सोसायटी' ने खरीद लिया है। इसके पास के दो भवन

---

१. अव इस घटना को सौ साल से भी अधिक हो चुकें हैं।

भी ले लिये गये हैं। ग्रीष्म में अमेरिकी लोग बड़े नगरों को छोड़कर विश्राम तथा मनोरंजन के लिए किसी ऐसे ग्रामीण स्थान में चले जाते हैं, जहाँ उनके विश्राम में व्यक्तिक्रम न हो। उस दिनों न्यूयार्क की वेदान्त सोसायटी भी बन्द हो जाती है और वहाँ के स्वामीजी तथा ब्रह्मचारी इसी सहस्त्रद्वीपोद्यान पार्क में चले जाते हैं, जहाँ का वातावरण शान्त और सुन्दर है। यहाँ वे शास्त्रों के अध्ययन की कक्षाएँ चलाते हैं और विचार-गोष्ठियाँ करते हैं। इन कक्षाओं तथा गोष्ठियों में समिति के बहुत से सदस्यों के अतिरिक्त, अमेरिका के विभिन्न भागों से कितने ही जिज्ञासु भी आते हैं। स्वामी निखिलानन्द, स्वामी आत्माज्ञानानन्द और स्वामी बुधानन्द विद्यार्थियों के साथ वैदिक तथा अन्य ग्रंथों का अध्ययन करते हैं और उपदेश भी देते हैं। ये लोग वहाँ के पूजन तथा धार्मिक अनुष्ठानों में भी भाग लेते हैं। जिन लोगों की जीवन के उच्च और गहन विषयों में रुचि है, उनका समय वहाँ बड़े आनन्द से बीतता है।

केम्ब्रिज (मेसाचुसेट्स) में भाषाविज्ञान के नवें सम्मेलन में भाग लेने के बाद मैं बोस्टन से वायुयान द्वारा वाटरटाउन (Watertown) नामक स्थान पर पहुँचा। यह स्थान सेण्टलारेंस नदी पर है। वहाँ से सहस्त्रद्वीपोद्यान पार्क में स्थित विवेकानन्द कुटीर लगभग ३० मील दूर है। मोटर का मार्ग है। वाटरटाउन में मेरे आदरणीय मित्र स्वामी नित्यस्वरूपानन्दजी (जो कलकत्ते के रामकृष्ण मिशन सांस्कृतिक संस्थान के प्रमुख हैं) और वेदान्त सोसायटी के एक युवक कार्यकर्ता डॉ. डब्लू. ए. विन्स्लो, एम.डी., मुझे लेने आये थे। आश्रम में पहुँचकर पहले हम स्वामी निखिलानन्दजी के कुटीर में जाकर उनसे मिले और तब विवेकानन्द कुटीर में पहुँचे। जहाँ स्वामी निखिलानन्दजी, स्वामी नित्यास्वरूपानन्दजी, स्वामी आत्माज्ञानानन्दजी, स्वामी बुधानन्दजी, डा. विन्स्लो और श्री वैग्वी के साथ ब्यालू और बहुत देर तक वार्तालाप की। इस प्रकार पहली सितम्वर से सहस्त्रद्वीपाद्यान पार्क में मेरे निवास का आरम्भ हुआ। मैं वहाँ ६ सितम्वर के पूर्वाह्न तक रहा।

ये पाँच दिन मेरे लिए बड़े स्मरणीय हैं। मैं ठीक तरह से यह बतलाने में असमर्थ हूँ कि सत्तर (सौ) वर्ष पूर्व स्वामी विवेकानन्द के निवास से अनुप्राणित तथा पवित्र हुए इस स्थान में मुझे कितना आनन्द, कितना आत्मिक विश्राम और कितनी आध्यात्मिक प्रेरणा मिली। सामने सेंट लारेंस नदी का भव्य दृश्य था; ओक, चिनार तथा देवदार के वृक्षों से छनकर आती हुई समीर थी; और मेरे रोम रोम में होकर मुझे शान्ति और आनन्द मिल रहा था। जिस घर में स्वामी विवेकानन्दजी रहते थे,

उसे अब 'विवेकानन्द कुटीर' कहते हैं। जिस कमरे में वे रहते थे, उसे अब पूजाघर बना दिया गया है। उसमें स्वामीजी की एक अवक्ष मूर्ति के अतिरिक्त श्रीरामकृष्ण परमहंसदेव और माता सारदादेवी के चित्र रखे हैं। प्रातःकाल और संध्या के समय वहाँ पूजा होती है। जिसमें सभी स्वामीजी तथा और शिष्यगण सम्मिलित होते हैं। यहाँ कुछ महिलाएँ भी हैं, जो स्वेच्छा से आश्रम की सेवा करती हैं। वे भी पूजा में आती हैं। जिस सरल भक्ति-भाव से ये लोग पूजन में भाग लेते हैं, उसे देखकर बड़ा प्रभाव पड़ता है। संस्कृत स्तोत्रों का पाठ होता है, बँगला के भजन गाये जाते हैं। संध्या की आरती के समय भजन विशेष रूप से होते हैं। कुछ देर तक लोग मौन होकर ध्यान भी करते हैं। आश्रम के आसपास घूमने के लिए काफी जगहें हैं और यहाँ का प्राकृतिक दृश्य इतना सुन्दर है कि उससे स्नायुतन्तुओं को काफी स्फूर्ति मिलती है। एक दिन स्वामी निखिलानन्द मुझे गाँव में ले गये। गर्मियों में यहाँ भीड़ हो जाती है, क्योंकि जिन लोगों ने यहाँ घर बना रखे हैं, वे आ पहुँचते हैं। अमेरिका के गाँवों में जो सुख-सुविधाएँ मिल सकती हैं, वे सभी इस गाँव में उपलब्ध हैं। किन्तु शरद ऋतु आते आते गाँव खाली होने लगता है। जाड़े के दिनों में, इस गाँव में मुश्किल से २० व्यक्ति रह जाते हैं। सर्दी इतनी पड़ती है कि जगह जगह पानी जम जाता है और बर्फ भी पड़ती है। लोग अपने मकानों में ताला लगाकर चले जाते हैं और जब गर्मियों में लौटते है, तो सारी चीजें ज्यों-की-त्यों पाते हैं। यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि गाँव में जो भी व्यक्ति मिला, उसने आदरपूर्वक स्वामीजी का अभिवादन किया। अमेरिका के निवासी सामान्यतः बड़े शिष्ट तथा दयालु होते हैं, किन्तु जब तक वे भलीभाँति परिचित न हो जायँ, तब तक बहुत बात नहीं करते। स्वामीजी की मित्रता गाँव के कई वृद्ध लोगों से हो गयी थी। उनमें से कोई कोई कभी स्वामीजी से मिलने आ जाते थे। रामकृष्ण मिशन कभी अपने धर्म या आदर्शों का प्रचार नहीं करता। सारी बातें उसकी पुस्तकों में उपलब्ध है और अपने आश्रमों में जो नियमित रूप से प्रवचन दिये जाते हैं, उनमें भी वे बातें बतलायी जाती हैं। जिन लोगों में रुचि या जिज्ञासा होती है, वे अपने आप इन प्रवचनों में आते हैं। इस प्रकार विद्यार्थियों तथा जिज्ञासुओं की संख्या बढ़ती है और वेदान्त के आदर्शों का प्रसार होता है।

स्वामी आत्माज्ञानानन्द अमेरिकन है। ग्यारह वर्ष पूर्व जब मैं उनसे न्यूयार्क में मिला था, तब वे मिस्टर जॉन मॉफिट थे। उस समय वे न्यूयार्क की वेदान्त सोसायटी

में सेवा करते थे। वे बड़े सुसंस्कृत और उल्लेखनीय व्यक्ति थे। वे संगीत के स्नातक थे और अँगरेजी के अच्छे कवि भी थे। उनसे वार्तालाप करके सदैव प्रसन्नता होती थी। स्वामी बुधानन्द अपेक्षाकृत कम अवस्था के हैं। स्वामी निखिलानन्द की तरह वे भी बंगाल से आये हैं, किन्तु कई वर्षों से उनका स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहता। डॉ. विन्स्लो योग्य डॉक्टर हैं, किन्तु उन्हें अपने प्रेक्टिस के बाद जो समय मिलता है, वह सब वे मिशन की सेवा में लगा देते हैं। श्री जेम्स ए. वैग्बी युवक हैं। ये वेदान्त और मिशन से आकर्षित होकर अपना सारा समय मिशन की सेवा में लगाते हैं। स्वामी नित्यास्वरूपानन्दजी ने कलकत्ते में बंगाल सरकार और भारत तथा बंगाल के लोगों की सहायता से हाल ही में 'रामकृष्ण मिशन सांस्कृतिक संस्थान' की स्थापना की है। यह वास्तव में उनका महान कार्य है। संस्थान की स्थापना के बाद वे कुछ दिनों के लिए अमरीका चले आये हैं और दो-चार सप्ताह सहस्रद्वीपाद्यान पार्क में रहेंगे। वे भी अवसर पड़ने पर भाषण और प्रवचन करेंगे।

मुझ पर यहाँ के वातावरण का ऐसा प्रभाव पड़ा कि मुझे यहाँ अनोखे आध्यात्मिक तथा धार्मिक अनुभव हुए। मेरे मुख से बरबस उपनिषद् की महान् प्रार्थना अपने आप निकलने लगी। एक दिन मैंने विवेकानन्द कुटीर के पूजाघर में (जो पहले स्वामी विवेकानन्द का कमरा था) बैठकर श्रीमद् भगवद्गीता का पारायण किया और शिव-सहस्रनाम तथा विष्णु-सहस्रनाम के भी पाठ किये। वहाँ का वातावरण कुछ ऐसा था कि मुझसे यह सब किये बिना नहीं रहा गया। यहाँ मुझसे आश्रम के निवासियों के लिए 'भारतीय सभ्यता के स्वरूप और उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि' पर भाषण देने को भी कहा गया। मेरे श्रोताओं में इस भाषण से इस विषय में रुचि उत्पन्न हुई और उन्होंने मुझसे कितने ही प्रश्न किये।

६ सितम्बर को हम सहस्रद्वीपोद्यान पार्क से न्यूयार्क के लिए सबेरे पौने नौ बजे मोटर द्वारा चल दिये। सड़क मार्ग से, वहाँ से न्यूयार्क ३७५ मील है। स्वामी आत्माज्ञानानन्दजी, स्वामी बुधानन्द जी, डॉ. विन्स्लो तथा श्री वैग्बी हमारे साथ थे। स्वामी आत्माज्ञानानन्द के एक अमरीकन मित्र अपने घर से १५० मील चलकर हमें न्यूयार्क पहुँचाने आये थे। इनका नाम जॉन एम. ड्रॉबिश था। उनके पूर्वज पोलैण्ड से अमेरिका आये थे। वे लकड़ी तथा भवन-निर्माण का व्यवसाय करते हैं और नागरिक तथा सामाजिक कार्यों में बराबर भाग लिया करते हैं। वे स्वयं बड़े श्रद्धालु रोमन कैथलिक सम्प्रदाय के ईसाई हैं, किन्तु साथ ही साथ उनमें मिशन के कार्य

और आदर्शों के प्रति भी बड़ा आदर-भाव है। मिशन से प्रेम और स्वामियों के प्रति आदर-भाव के कारण वे हमें अपनी मोटर में न्यूयार्क तक पहुँचाने आये थे। सुखद यात्रा के बाद हम अपराह्न में प्रायः साढ़े पाँच बजे न्यूयार्क के वेदान्त केन्द्र में पहुँच गये। रास्ते में हमें अमेरिकन राजमार्गों की यात्रा का काफी अनुभव हुआ। इन सड़कों पर मोटलों, भोजनालयों तथा विश्रामघरों की भरमार है। हमने कुछ विशाल मोटर — कारवाँ-गाड़ियाँ भी देखीं, जिनमें अमेरिकन लोग अपने परिवारों को लेकर अपने देश का दर्शन करने निकलते है। ये कारवाँ-गाड़ियाँ सामान्यतः ४५ फुट लम्बी और ६ फुट चौड़ी होती है। बड़ी कारवाँ-गाड़ियों की लम्बाई तो ६४ फुट और चौड़ाई १२ फुट तक होती है। ये छोटे नगरों की सड़कों पर नहीं जा सकतीं, किन्तु इनमें सारा परिवार, रेल के डब्बों की तरह आराम से लम्बी यात्रा कर सकता है।

ऊपर से देखने में मालूम होता है कि सारी पाश्चात्य सभ्यता और विशेषकर अमेरिकी सभ्यता का मूलमंत्र जीवन को यथासम्भव सुखी तथा आनन्दमय बनाना और शारीरिक सुखों का भोग है। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वहाँ जीवन की गहन बातों की भी उपेक्षा नहीं की जाती। यह सच है कि उनके जीवन के इस अंग की देखभाल विभिन्न धर्मों की वे संस्थाएँ करती हैं, जो अपने परम्परागत सिद्धान्तों की लीक पर ही चलती हैं। अमेरिकी लोगों की इच्छा वर्ष में तीन महीने घर छोड़कर प्रकृति के सम्पर्क में रहने की होती है। इसमें उन्हें अपने आध्यात्मिक विकास में सहायता मिलती है। पश्चिम और अमेरिका के स्त्री-पुरुषों में मानव-जीवन की गहन बातों की झलक दिखाकर रामकृष्ण मिशन की वेदान्त-संस्थाओं के संन्यासी बड़ा शुभ कार्य कर रहे हैं। जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, सुदूर अमेरिका में मेरी सहस्त्रद्वीपोद्यान पार्क की यात्रा से मुझे शान्ति और आनन्द का अनुभव हुआ। इसका प्रत्यक्ष कारण यह था कि वहाँ चारों ओर वेदान्त का जीवन्त वातावरण था और वहाँ की पृष्ठभूमि में परमहंसदेव और स्वामी विवेकानन्द के महान व्यक्तित्व का प्रभाव भासित होता था। वहाँ जाकर मेरी सारी थकावट दूर हो गयी, और मेरा हृदय आनन्द-विभोर हो गया।

('सरस्वती' मासिक के जनवरी, १९६३ अंक में प्रकाशित लेख का साभार पुनर्मुद्रण)

□

हिन्दी में श्रीरामकृष्ण-वाणी

स्वामी विदेहात्मानन्द

१५ अगस्त १८८६ ई० की मध्य रात्रि के किंचित बाद श्रीरामकृष्ण ने महासमाधि ली। इसके पश्चात् उनके त्यागी शिष्यों ने कलकत्ते के वराहनगर मुहल्ले में एक मठ बना कर रहना आरम्भ किया। श्रीरामकृष्ण उन्हें अपने द्वारा प्रदर्शित युगधर्म का पूरे विश्व में प्रचार का भार उन्हें सौंप गये थे और उन लोगों ने यथाशक्ति इस उत्तरदायित्व को पूरा किया। इस दिशा में सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथा ऐतिहासिक घटना थी — प्रथमतः, १८९३ ई. में स्वामी विवेकानन्द का अमेरिका जाना तथा पाश्चात्य देशों में कई वर्षो का प्रचार-कार्य और द्वितीयतः, १८९७ ई. में उनका भारत लौटकर राष्ट्र के नाम सन्देश देना तथा 'रामकृष्ण मिशन' की स्थापना।

हिन्दी भाषा के माध्यम से इस नवीन भावधारा के प्रचार का महत्व समझने के लिए हमें थोड़ा-सा अपनी परम्पराओं की ओर भी दृष्टिपात करना होगा। अत्यन्त प्राचीन काल से ही उत्तर में हिमालय की तलहटियों से लेकर, पूर्व में पटना व राजगीर, पश्चिम में मथुरा व कुरुक्षेत्र और दक्षिण में उज्जैन-मालवा तक फैला हुआ क्षेत्र मध्यदेश के नाम से प्रसिद्ध था। इसकी राजनीतिक सत्ता कभी जुड़ती और कभी बिखरती रही, परन्तु इसका सांस्कृतिक केन्द्र वाराणसी बना रहा। संस्कृत तो विद्वानों की सामान्य भाषा थी ही, परन्तु आम जनता के लिए पिछले लगभग दो सहस्र वर्षों के दौरान इसी क्षेत्र के बीच बोली जानेवाली भाषा सम्पूर्ण भारत के लिए सामान्य सम्पर्क-सूत्र का उत्तदायित्व निभाती रही है। वर्तमान युग में यह गौरव हिन्दी को प्राप्त है, जो आज विश्व की तीसरी सर्वाधिक बोली-समझी जानेवाली भाषा है और भारत की लगभग आधी जनसंख्या के बीच भी सन्देश पहुँचाने का यह एक सशक्त माध्यम है। श्रीरामकृष्ण स्वयं भी तथा उनके अधिकांश शिष्य हिन्दी के इस महत्व से परिचित थे और अहिन्दीभाषी होते हुए भी अल्पाधिक परिमाण में हिन्दी जानते थे तथा यथावश्यक उसका उपयोग करते थे। परन्तु हिन्दी भाषा उस समय तक अभी विकासशील अवस्था में थी, तथापि उन्हीं दिनों किस प्रकार इसके माध्यम से श्रीरामकृष्ण के जीवन तथा सन्देश के रूप में युगधर्म के इस सन्देश को अभिव्यक्ति मिली, उसी के आरम्भिक पर्व का एक संक्षिप्त लेखाजोखा यहाँ प्रस्तुत है —

श्रीरामकृष्ण के उपदेशों का हिन्दी में प्रकाशन सर्वप्रथम कब आरम्भ हुआ, इस

विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। हमें इसका जो सबसे पहला उदाहरण मिल सका है वह बाँकीपुर पटना से निकलनेवाली 'बिहार बन्धु' पत्रिका के वर्ष-२३, अंक-५ और तदनुसार मई, १८९४ अंक (पृष्ठ ३१-३२) में प्रकाशित हुआ था। प्रथम नमूने के रूप में इसके महत्व को देखते हुए, इसे यहाँ यथावत् उद्धृत किया जाता है। इस लेख में श्रीरामकृष्ण द्वारा वर्णित एक कथा प्रस्तुत की गयी है —

परमहंस रामकृष्ण की उक्ति

"किसी समय एक साधु जंगल मय स्थान में बास करते थे। एक बड़े वृक्ष के नीचे वह सोते थे। सिवा दो तीन कौपीन के और कुछ पहनने का उनके पास न था। एक कौपीन पहन कर साधु रात को सोते थे और बाकी दोनों को भूमि पर अपवित्र स्थान में न रख कर वृक्ष की शाखा में बाँध देते थे। कुछ दिनों के बाद उस वृक्ष पर चूहों का उत्पात आरम्भ हुआ। यहाँ तक कि वह साधु का वस्त्र भी काटने लगे। वस्त्र फट जाने पर वह गांव में जाकर कपड़ा मांग लाते थे। अब यह नौबत आई कि प्रति दिन चूहे उनका वस्त्र काटने लगे और यही हाल कह कर लोगों से माँग कर वह वस्त्र लाने लगे। एक दिन उसी गांव के विज्ञ मनुष्य ने साधु से कहा "साधु जी ! आप एक बिल्ली पालिये इससे चूहों का उत्पात न होगा, नहीं तो भला रोज़ रोज़ आपको वस्त्र कौन देगा।" साधु ने इस सांसारिक मनुष्य की बात ठीक समझ एक बिल्ली पाली। बिल्ली पाली गई पर खाने का उसका हिसाब ठीक न लगा। साधु कभी फल खाते थे।। कभी हविष्यान्न ही खाते थे। मांस मछली दूध खाने वाली बिल्ली साधु के आहार पर क्यों रहने लगी? इसी लिये बिल्ली के लिये साधु को प्रतिदिन गांव में थोड़ा थोड़ा दूध मांगने को जाना पड़ता था और इच्छा न रहने पर भी प्रतिदिन बिल्ली ही के कारण भात बनाना पड़ता था। गृहस्थ प्रतिदिन दूध कहां से देगा। प्रतिदिन दूध के लिये साधु को छट पटाते देख एक मनुष्य ने उनको यह सलाह दी कि साधुजी आप एक गाय रख लीजिये तब रोज दूध मांगना न पड़ेगा। साधु को यह सलाह जंच गई। उन्हों ने एक गाय रख ली। उन का काम और भी बढ़ गया। अब वह खूब तड़के उठ गांव में जाकर थोड़ी थोड़ी खल्ली भूसा मांग मांग कर गाय की सेवा करने लगे। और दिनों में तो भला गऊ को वृक्ष तले रखते थे, पर वर्षा में कैसे रक्खें अब उनको एक झोपड़ा बनवाना पड़ा। गाय और बिल्ली की सेवा करने मे चूहे का उत्पात तो घट गया, पर दूसरा दूसरा उत्पात बढ़ा। पर साधु का मन ऐसा लिप्त हो रहा था कि जान

कर भी अन जान से हो गये। धीरे धीरे गऊ के बच्चे हुए। केवल भीख पर उन जीवों का कैसे निर्वाह हो। यह सब देख गाँव के जमीदार से थोड़ी जमा पर कुछ जमीन उन्हों ने ली। और एक किसान के साझे में खेती करने लगे। पहले साल साधु को इच्छानुसार गाय का चारा मिल गया और जो धान पैदा हुई उसे बेच दो तीन कोठरी उन्होंने बनवाई। दूसरे वर्ष और जमीन ले कर खेती करने लगे। उस वर्ष आशा से बढ़ कर फसल हुई। साधु से उसे बेच इमारत बनवाई और कई नौकर रक्खा। इसी खेती के बदौलत अन्त को साधु एक धनवान मनुष्य हो गये। उनका ध्यान और भजन तो बहुत दिनों से लोप हो ही गया था। उन्हों ने अब संसारी होकर बिबाह कर लिया और सुख से गृहस्थी चलाने लगे। एक दिन ऐसे ही समय में उस साधु के गुरुजी आ पहुंचे। उन्होंने साधु से पूछा कि "यह मकान किसका है?" "ये नौकर किसके हैं?" "यह मव क्या हुआ है?" शिष्य ने गुरु को प्रणाम कर कहा "महाराज यह सब एक कोपीन के कारण हुआ।"

"इस किस्से में यह झलक जाता है कि माया के फेर में पड़ कर मनुष्य की अवस्था कितनी बदल जाती है और यह माया कामिनी कांचनासक्त संसारी मनुष्य ही में प्रत्यक्ष होती है।"

हिन्दी भाषा में पुस्तक के रूप में श्रीरामकृष्ण की उक्तियों के लिए समय को और भी कई वर्ष की प्रतीक्षा करनी पड़ी। १८६८ ई. के प्रारम्भ में श्रीरामकृष्ण की कथाओं का एक संकलन एक पुस्तिका के रूप में प्रकाशित हुआ। वैसे, जैसा कि हम आगे देखेंगे कि कई वर्षों पूर्व ही इसकी पाण्डुलिपि तैयार हो चुकी थी। इस पुस्तिका का परिचय कराने के पूर्व स्वामी विवेकानन्द के जीवन का एक पृष्ठ पलटना आवश्यक होगा।

स्वामीजी की विभिन्न जीवनी ग्रन्थों में हम पाते हैं कि अपनी प्रथम विदेश यात्रा से लौटने के बाद जब वे ११मई, १८६७ ई० को अल्मोड़ा पहुँचे, तो वहाँ एक विशाल मण्डप में लगभग पाँच सहस्र लोगों ने एकत्र होकर उनका सत्कार किया था। सभा में सर्वप्रथम पण्डित ज्वालादत्त जोशी ने स्वागत-समिति की ओर से हिन्दी में एक अभिनन्दन पत्र पढ़ा। इन्हीं जोशीजी को श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा को प्रथम हिन्दी ग्रन्थ के प्रणयन का श्रेय जाता है। १८६८ ई० के प्रारम्भ में इलाहाबाद के इण्डियन प्रेस से प्रकाशित इस पुस्तिका का शीर्षक है — "दृष्टान्त समुच्चय अर्थात् श्रीमान् परमहंस रामकृष्णजी के भक्ति ज्ञान वैराग्य सम्बन्धी दृष्टान्त"। पुस्तिका के मुखपृष्ठ पर यह सूचना भी दी गई है कि इसे "प्रयाग हाईकोर्ट के वकील

पण्डित ज्वालादत्त जोशी एकट्ठा करके सरल हिन्दी भाषा में लिखा।''

श्रीरामकृष्ण की ३८ दृष्टान्तों तथा कथाओं को प्रस्तुत करनेवाली इस ४+२+३३ पृष्ठों की इस पुस्तिका का प्रथम पृष्ठ इस प्रकार है —

''श्री श्रीरामकृष्णोजयति
श्री स्वामी अभेदानन्द श्रीस्वामी निर्मलानन्द
श्री स्वामी सदानन्द चरणेषु
समर्पितमिदम्

''प्रायः तीन वर्ष हुये कि आप के सत्संग से मुझको यह लाभ विशेष हुआ कि मैंने पूज्यपाद श्री गुरु महाराज की उक्तियाँ आप के पास बैठ के सुनीं और उन का सूचीपत्र भी बनाया। पीछे आपकी ऐसी कृपा हुई कि आप अपना अंग्रेजी लेख जिसमें वे सब उक्तियां हैं मुझ ही को दे गये। उसमें जितने दृष्टान्त हैं उन को मैंने चुन-चुन कर एकट्ठा किया और शक्ति अनुसार हिन्दी में लिखा। यह वही पुस्तक है।

आप का कृपाकांक्षी
ज्वाला दत्त जोशी''

फिर फाल्गुन शुक्ल द्वितीया संवत् १९५४ को लेखक ने इसकी भूमिका इस प्रकार लिखी है — ''प्राचीन काल में जितने बड़े बड़े ऋषि हुए हैं उन्हों ने दृष्टान्त द्वारा लोगों को उपदेश किया। इसी प्रकार श्रीपरमहंस रामकृष्णजी ने भी अपने शिष्यों को अनेक बातें दृष्टान्त द्वारा सिखाईं क्योंकि इस रीति से जो कुछ सिखाया जाता है वह एक तो जल्दी समझ में आ जाता है दूसरे बहुत काल तक स्मरण रहता है। उक्त परमहंसजी के इस पुस्तक में मैंने वेही दृष्टान्त रक्खे हैं जो मुझ को लोगों के लिए अधिक उपयोगी जान पड़े। आशा है कि सज्जन लोग जहां कहीं भूल हो गयी हो उसे शुद्ध कर मुझे कृतार्थ करेंगे।''

जैसा कि इस पुस्तिका के समर्पण पत्र से स्पष्ट है, इसके रचयिता श्रीरामकृष्ण-शिष्यों के घनिष्ठ सम्पर्क में आये थे और उन्हीं के पास से सामग्री एकत्र करके इसे प्रस्तुत किया गया। वैसे यह पुस्तक लगभग तीन वर्ष पूर्व ही तैयार हो चुकी थी, ऐसा संकेत स्वामी अभेदानन्द के एक पत्र से मिलता है। २६ नवम्बर १८९५ ई० को उन्होंने ज्वालादत्तजी के नाम एक पत्र में जयपुर से लिखा है, "We don't find a good press here, and consequently we are at present

obliged to give up the idea of publishing here the Uktis in Hindi. We thought that the Maharaja of Khetri has got a good press of his own, but that is not the case, moreover we don't like to request the Maharaja for the publication of the Uktis... Our Guru Maharaj only knows when his Uktis will come out." — "हमें यहाँ कोई अच्छा प्रेस नहीं मिला और इस कारण हमने विवश होकर फिलहाल उक्तियों को हिन्दी में प्रकाशित करने का विचार छोड़ दिया है। हमारा अनुमान था कि खेतड़ी के महाराजा का अपना एक अच्छा प्रेस होगा, परन्तु बात ऐसी नहीं है। इसके अतिरिक्त इन उक्तियों के प्रकाशन हेतु महाराजा से अनुरोध करना हमें पसन्द नहीं है। ... हमारे गुरु महाराज ही जानते हैं कि उनकी उक्तियाँ कब प्रकाशित होंगी।"

कई वर्ष वाद इस पुस्तिका का प्रकाशन हो जाने पर जोशीजी ने उसकी कुछ प्रतियाँ कलकत्ते स्थित मठ को भेजीं। परन्तु स्वामी अभेदानन्द तब तक इंग्लैण्ड तथा उसके बाद अमेरिका के दौरे पर जा चुके थे। अतएव ज्वालादत्तजी द्वारा इस पुस्तिका के प्रकाशन की सूचना मठ भेजने पर उन्हें स्वामी योगानन्दजी से उत्तर मिला। २६ फरवरी, १८९८ ई. को योगानन्दजी ने लिखा, "Recently we have changed our Math to Belur, so it is the (reason for the) delay in getting your remittance. However we may expect it shortly. Glad to know that you have written the parables of Guru Maharaj in Hindi." — "अभी हाल ही में हमने अपना मठ बेलुड़ में स्थानान्तरित कर दिया है, इसीलिए आपका धनादेश पहुँचने में विलम्ब हो रहा है। वैसे शीघ्र ही उसके प्राप्त होने की सम्भावना है। यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आपने गुरु महाराज के दृष्टान्तों का हिन्दी में प्रकाशन किया है।" दो दिन बाद ही २८ फरवरी को वे पुनः लिखते हैं, "I have received your M.O. of Rs. 16/- duly. I have also received your Drishtanta Samuchchaya (25 copies). — "आपका १६ रुपयों का मनिआर्डर यथासमय मिला और आपके दृष्टान्त समुच्चय की २५ प्रतियाँ भी प्राप्त हुईं।"

श्रीरामकृष्ण के सन्देश को हिन्दी में प्रकाशित करने का दूसरा महत्वपूर्ण प्रयास मिलता है, मथुरा की 'निगमागम मण्डली' की द्विमासिक पत्रिका 'निगमागम चन्द्रिका' में, जिसने १८९८ ई० से ही अपने प्रकाशन का श्रीगणेश किया था। चैत्र-बैशाख

१६५५ वि० में प्रकाशित इसका प्रवेशांक खेतड़ीनरेश श्रीमान अजीत सिंह को समर्पित किया गया है, जो स्वामी विवेकानन्द के एक शिष्य थे। इस पत्रिका के पहले वर्ष के ही माघ-फाल्गुन (जनवरी-फरवरी १८६६ ई०) अंक में श्रीरामकृष्ण पर एक लेख है। सम्भवतः प्रूफ की गल्ती के कारण उसका शीर्षक इस प्रकार है — 'भक्तावधूत श्रीमत् राधाकृष्ण परमहंस जी के उपदेश'। पृष्ठ १६० से १६६ तक लगभग छह पृष्ठों के इस लेख के प्रारम्भ में श्रीरामकृष्ण की जीवनी से परिचय कराते हुए लिखा गया है —

"थोड़े से ही दिन हुए बङ्गदेश में इन महापुरुष ने जन्म लेकर बहुत से जीवों का उद्धार साधन किया है। महात्मा का जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था; जिला चौबीस परगना के अन्तर्गत, दक्षिणेश्वर ग्राम की श्रीमती रानी रासमणि के मन्दिर के पुरोहित थे; बालपन से ही इनकी दृष्टि साधन की ओर थी; और थोड़े दिन के साधन में अद्‌भुत विभूतियों का प्रकाश इनमें होने लगा और देखते देखते ही माया रहित हो परमहंस गति को प्राप्त हो गये। इस परमगति को भी पाय इन्होंने देशदेशान्तरों का पर्यटन नहीं किया. समाधि ग्रहण पर्यन्त ये महापुरुष उसी ग्राम में गंगा के तट पर एक फुलवारी में स्थित रहे। अनुमान आठ वा नौ वर्ष हुए इन्होंने शरीर त्याग कर दिया है।।

"इनकी प्रशंसा जो कुछ लिखी जाय थोड़ी है। पश्चिमी अर्थात् यूरुप की शिक्षा के प्रभावसे अँगरेजी पढ़े हुए बालकगण कुमार्गी होते जाते थे, और अपने सनातन धर्म्म को छोड़कर अधर्म्मों की ओर खिंचते जाते थे; यह इन्हीं महापुरुष की कृपा है कि, सहस्रों बंग देशवासी युवा अपने धर्म्म को समझने लगे, यह इन्हीं महापुरुष का प्रभाव है कि प्रसिद्ध ब्रह्म समाज के प्रवर्त्तक और अद्‌भुतवक्ता श्रीयुत केशवचन्द्र सेनजी की वृत्तिभी सनातन धर्म की अनुयायी हो गयी थी; और उन्होंने अपनी समाजोक्त 'ब्रह्म उपासना' को छोड़कर हरि संकीर्तन द्वारा 'हरि वोल हरि वोल' उच्चारण कर के अपने को पवित्र किया था। इन महापुरुषकी अद्‌भुत विभूति का परिचय इनके शिष्य द्वारा ही प्रकाश होता है। स्वामी विवेकानन्द इन्हीं के शिष्य हैं; जिन्होंने अपनी वक्तृता, गम्भीर ज्ञान, और त्यागवृत्ति के द्वारा समस्त अमेरिका के बासियों को मोहित कर लिया है। गत चिकागो धर्म्म प्रदर्शिनी में इन्हीं के विज्ञान और सत्युक्त पूर्ण वक्तृता द्वारा वेदोक्त सनातन धर्म्म सब धर्म्मों से श्रेष्ठ प्रतिपन्न हुआ है।।

"परमहंसाचार्य रामकृष्ण जो कुछ धर्म्म उपदेश अपने भक्तों को दिया करते थे वे वहुत ही श्रेष्ठ हैं; छोटी छोटी कथाओं में सनातन धर्म्म के गम्भीर वैज्ञानिक तत्वों को उन्होंने प्रकाशित किया है। यद्यपि इन महापुरुषों की बनाई हुई कोई पुस्तक नहीं है, तथापि उनके भक्तों में से किसी किसी ने उनके कुछ कुछ वाक्य संग्रह किये हैं; — हमारी इच्छा है कि क्रमशः उनको इस प्रबंध में प्रकाश करते रहें। पुनः उनका जीवन चरित्र भी क्रमशः प्रकाश करने की इच्छा है।।" इतना परिचय देने के बाद पत्रिका के अगले चार पृष्ठों में श्रीरामकृष्ण के सोलह उपदेश प्रस्तुत किये गये हैं।

तीसरे प्रयास की पृष्ठभूमि इस प्रकार है — हिन्दी के प्रथम मौलिक उपन्यासकार और 'चन्द्रकान्ता सन्तति' के सुप्रसिद्ध लेखक बाबू देवकीनन्दन खत्री ने सितम्बर १८६८ ई० में वाराणसी में लहरी प्रेस की स्थापना की। बाद में उन्होंने 'सुदर्शन' नाम से एक हिन्दी मासिक भी निकालने की योजना बनायी। यह पत्रिका पं० माधव प्रसाद मिश्र के सम्पादन में १६०० ई० से निकलनी प्रारम्भ हुई। मिश्रजी आगे चल कर द्विवेदीयुग के एक प्रमुख गद्यकार के रूप में विख्यात हुए। 'सुदर्शन' के पहले अंक में आपने इस पत्रिका के सम्पादन सम्बन्धी नीति की घोषणा इन शब्दों में की थी — "हम यह सूचित करते हैं कि 'सुदर्शन' हिन्दू पत्र है और यह सनातन धर्म को अपना प्राण समझता है। साथ ही व्यक्ति विशेष और सम्प्रदाय विशेष का इससे कोई दुराग्रह भी नहीं है।" यह पत्रिका कुल दो वर्ष तथा आठ महीने चलकर वन्द हो गयी। इस पत्रिका में मिश्रजी की लेखनी से साहित्य सम्बन्धी अनेक प्रवन्ध तथा समीक्षाएँ प्रकाशित होती थीं। इस मासिक के पहले वर्ष के चौथे (अप्रैल, १६००ई.) अंक मे ही 'परमहंसजी के उपदेश' शीर्षक से श्रीरामकृष्ण की उक्तियों का प्रकाशन आरम्भ हुआ। इस लेखमाला की पादटिप्पणी में मिश्रजी ने लिखा है, "वङ्गदेश के परम प्रसिद्ध भगवद्भक्त, ब्रह्मनिष्ठ महात्मा परमहंस रामकृष्णदेव जी इस समय वड़े महापुरुष हो चुके हैं उनके उदार विचार उनके वहुमूल्य उपदेशों में भरे हुए हैं। इसी कारण हम अनेक मित्रों के अनुरोध से "सुदर्शन' में उनके उपदेश प्रकाश करने लगे हैं। यथा समय उनका चित्र चरित्र भी प्रकाश करेंगे।।"

इस लेखमाला के अन्तर्गत उसी वर्ष के छह अंकों में कुल १२१ उक्तियाँ प्रकाशित हुईं, जिनका अंकवार विवरण इस प्रकार है — अप्रैल में १ से १७ तक, मई में ३४ तक, जून में ४० तक, जुलाई में ५५ तक, सितम्बर में ८० तक, अक्तूबर

में ११० तक और दिसम्बर के अंक में १२१ तक। लगता है यह श्रृंखला अगले वर्ष भी चली थी। वर्ष ३ संख्या १ (जनवरी, १९०२) में लगभग १० पृष्ठों की 'परमहंसजी की जीवनी' भी प्रकाशित हुई है। बाद में इस पूरी सामग्री को एक पुस्तिका के रूप में संकलित कर लिया गया। १०१ पृष्ठों की इस पुस्तिका का पहला पृष्ठ कुछ इस प्रकार था —

बङ्गदेश के सुविख्यात महात्मा

परमहंस श्रीरामकृष्णदेव

--: का :--

-- ०--

जीवनचरित और उपदेश

'सुदर्शन' सम्पादक — पं० माधवप्रसाद मिश्र द्वारा

संकलित और अनुवादित

मूल्य ५ आ०　　काशी, लहरी प्रेस में प्रथम बार मुद्रित　　१९०३ई०

पुस्तक मिलने का पता —

मैनेजर लहरी प्रेस, बनारस सिटी और बाबू नन्दलाल वर्मा

मैनेजर फ्रेण्ड एण्ड कम्पनी, मथुरा जी

इस पुस्तिका के अन्तिम पृष्ठों में संकलक ने लिखा है — "परमहंसदेव का चरित्र बहुत ही विस्तृत और पवित्र है। बङ्गला भाषा के सम्बाद पत्रों में उनके चरित्र और उपदेशों की कई वर्षों से आलोचना हो रही है, बड़ी २ जीवन चरित की पुस्तकें छपी हैं। अँग्रेजी भाषा के मासिक पत्र भी इनके चरित्र से खाली नहीं हैं। विदेशीय पंडित मोक्समूलर साहब ने भी परमहंसजी के विषय में एक पुस्तक लिखी है। हमने इनके चरित्र का दिग्‌दर्शन मात्र किया है, अवकाश मिला तो इनके विषय में विशेष लिखने की आशा है। ऐसा योग्यसिद्ध महापुरुष बहुत दिनों से इस देश में नहीं हुआ। विना पढ़े किस प्रकार भक्तिभाव से पुरुष ऊँचे स्थान पर पहुँच सकता है, इस विषय में रामकृष्णदेव का निर्मल चरित्र उदाहरण है। मथुरानाथ बाबू पचीस सहस्र वार्षिक आय की सम्पत्ति इनके नाम कराते थे, पर इन्होंने स्वीकार नहीं की। एक सादा वस्त्र शरीर पर रखते थे, बहुधा नग्न रहते थे। लोकेषणा,

पुत्रेषणा और वित्तेषणा का पूरा दमन कर दिया था। उनक उपदेश का ऐसा अच्छा ढंग था कि वह चलते, फिरते, बैठते, उठते जो कुछ अपनी अमृतमय रसीली वाणी से कहते थे, सो सबको हृदयङ्गम हो जाता था।।

"उनके उपदेश अधिक उपयोगी समझकर हमने बङ्गभाषा मे सङ्ग्रह किये हैं। पहिले यह 'सुदर्शन' मासिक पत्र द्वारा प्रकाश होने लगे थे, फैजाबाद के प्रसिद्ध भगवद्भक्त वकील बाबू बलदेवप्रसादजी की प्रार्थना से पुस्तकाकार प्रकाशित किए गये हैं। उपदेशों के अनुवाद करने और प्रूफ देखने में आयुष्मान् बाबू मनोहरलाल जी ने विशेष सहायता दी है, इसलिये उनको यहां साधुवाद न देना अनुचित है। इस बार इसके छपने में बहुत शीघ्रता हुई है इसलिये सम्भव है कि इसमें त्रुटियां रही हों, सूचित होने पर दूसरी आवृत्ति में दूर कर दी जायँगी।।

काशी **माधव प्रसाद मिश्र**

शिवरात्रि, सं० १९५६

जनवरी, १९०२ ई० के 'सुदर्शन' मासिक में तथा वाद में उपरोक्त पुस्तिका के १६ पृष्टों में संकलित जीवनी ही हिन्दी में प्राप्त होनेवाली श्रीरामकृष्ण की प्रथम जीवनी है। दूसरा चरित्रांकन हिन्दी के मूर्धन्य लेखक श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा हुआ था। 'सरस्वती' मासिक के सम्पादकीय विभाग का कार्यभार सँभालने के तत्काल बाद ही उन्होंने 'महात्मा रामकृष्ण परमहंस' शीर्षक से एक विस्तृत प्रबन्ध लिखा, जो उसी पत्रिका में १९०३ ई. के जनवरी-फरवरी संयुक्तांक में प्रकाशित हुआ। बाद में यह १९२६ में मुद्रित होनेवाली उनकी 'चरितचर्या' नामक पुस्तिका के प्रारम्भिक २८ पृष्ठों के रूप में संकलित हुआ।

रामकृष्ण मठ, नागपुर तथा अद्वैत आश्रम, कलकत्ता द्वारा हिन्दी प्रकाशन आरम्भ करने के पूर्व निकलने वाली श्रीरामकृष्ण की जीवनी तथा उपदेशों से सम्बन्धित कुछ महत्वपूर्ण ग्रन्थों की तालिका इस प्रकार है —

१८९८ ई०, दृष्टान्त सम्मुचय, लेखक — पं० ज्वालादत्त जोशी, प्रकाशक — इण्डियन प्रेस, प्रयाग, पृ० ६+३३

१९०३ ई०, परमहंस श्रीरामकृष्णदेव का जीवनचरित तथा उपदेश, लेखक — पं० माधव प्रसाद मिश्र, प्रकाशक — लहरी प्रेस, काशी, पृ० ८०+२१

१९०४ ई०, श्रीरामकृष्ण परमहंस और उनके उपदेश, संकलक — स्वामी विज्ञानानन्द, प्रकाशक — ब्रह्मवादिन क्लब, इलाहाबाद

१९११ ई०, मदीय आचार्यदेव (स्वामी विवेकानन्द), प्रकाशक — रामदयाल अग्रवाल, प्रयाग
१९११ ई०, श्रीश्रीरामकृष्ण परमहंसदेव का अलौकिक जीवन-चरित्र, लेखक तथा प्रकाशक — आनन्द मोहन चौधरी, नागपुर, पृ० ३७
१९१२ (?), श्रीरामकृष्ण के उपदेश (स्वामी ब्रह्मानन्द) प्रकाशक — श्रीरामकृष्ण अद्वैत आश्रम, काशी, पृ० ६+७९
१९१६ ई०, श्रीरामकृष्ण वाक्यसुधा, संकलक — शंकर नरहर जोशी, पूना
१९१८ ई०, ईश्वरीय बोध, संकलक — केदार नाथ गुप्त, प्रयाग, पृ० ४+७६
१९१८ ई०, रामकृष्ण परमहंस के सदुपदेश, संकलक — शिवसहाय चतुर्वेदी (सागर), प्रकाशक — हरिदास एण्ड कम्पनी, कलकत्ता, पृ० ६+७२
१९१९ ई०, श्रीरामकृष्ण कथामृत (प्रथम भाग) अनुवादक — लाला हरनारायण बाथम, प्रकाशक — मरचंट प्रेस, कानपुर, पृ० १२+३०४
१९२३ ई०, श्रीरामकृष्ण-कथामृत (पहला भाग) संकलक — रामदहिन मिश्र, प्रकाशक — रामनरायन लाल, प्रयाग, पृ० ४+५९
१९२४ ई०, वही (दूसरा भाग), पृ० ४+६७
१९३२ ई०, श्रीरामकृष्ण परमहंस, लेखक — स्वामी चिदात्मानन्द, प्रकाशक — गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ०
१९३५ ई०, मेरे देवता (स्वामी विवेकानन्द) अनुवादक — बनारसी दास 'भोजपुरी', प्रकाशक — चौधरी एण्ड सन्स, बनारस
१९३६ ई०, श्रीश्रीरामकृष्ण परमहंसदेव की संक्षिप्त जीवनी तथा उपदेश, प्रकाशक — रामकृष्ण-विवेकानन्द मन्दिर, २ डी रोड, इलाहाबाद, पृ० १४
१९३६ ई०, श्रीरामकृष्ण परमहंस शताब्दी जयन्ती स्मृति, सम्पादक — चिन्मय चैतन्य, अल्मोड़ा, प्रकाशक — रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, बनारस, पृ० १६+३२०
१९३९ ई०, श्रीरामकृष्ण वाक्यसुधा, अनुवादक — नृपेन्द्रनाथ बन्द्योपाध्याय, प्रकाशक — रामकृष्ण मिशन आश्रम, कानपुर, पृ० ८+९२
१९४० ई०, श्रीरामकृष्ण चरितामृत, लल्ली प्रसाद पाण्डे, प्रकाशक — इन्डियन प्रेस, प्रयाग, पृ० ६+१९२

□

मानस रोग (२६/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा प्रतिवर्ष आयोजित होनेवाले विवेकानन्द जयन्ती के अवसरों पर पण्डितजी ने 'रामचरितमानस' के आधार पर 'मानस-रोग' विषयक कुल ४६ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत अनुलेखन उन्हीं में से छब्बीसवें प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत विद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। — सं.)

सुग्रीव के चरित्र में दुर्बलताएँ अवश्य हैं, किन्तु उसके साथ ही उनमें एक विशेषता है। छल और कपट की वृत्ति उनमें बिलकुल भी नहीं है। वे बड़े सरल हैं, भगवान के सामने अपनी सारी दुर्बलताओं को प्रकट करते हुए वे बड़े स्पष्ट शब्दों में कह देते हैं —

बिषय बस्य सुर नर मुनि स्वामी ।
मैं पावँर पसु कपि अति कामी ।।
नारि नयन सर जाहि न लागा ।
घोर क्रोध तम निसि जो जागा ।।
लोभ पाँस जेहि गर न बँधाया ।
सो नर तुम्ह समान रघुराया ।।४/२१/३-५

उन्होंने अपने सारे दोष गिनाये और साथ ही अपनी असमर्थता भी व्यक्त कर दी —

यह गुन साधन तें नहिं होई ।

— महाराज, इन बुराइयों का नाश व्यक्ति के पुरुषार्थ से नहीं होता है। तो कैसे होता है ? बोले —

तुम्हरी कृपाँ पाव कोइ कोई ।। ४/२१/६

— यह आपकी कृपा से ही दूर होता है । रोगी ने तो अपना रोग बता दिया, अब इसके आगे वैद्य की भूमिका है। रोगी को स्वस्थ बनाना वैद्य का काम है। वैसे रोगी का भी यह कर्तव्य है कि वह वैद्य द्वारा दी गई दवा तथा पथ्य का सेवन करे। इतना सहयोग तो उसे करना ही होगा। अभिप्राय यह है कि जब हमें सद्गुण की औषधि और सदाचार का पथ्य दिया जाय, तो हमें सच्चाई के साथ उसका सेवन करना चाहिए। इससे निश्चित रूप से मन के बहुत से रोग दूर हो सकते हैं, या

उनका उपशम हो सकता है। किसी के लोभ-रोग की चिकित्सा करना हो, तो उसे दान की औषधि दी जाती है। काम-रोग को दूर करने के लिए ब्रह्मचर्य की दवा दी जाती है। क्रोध की दवा है क्षमा। लेकिन समस्या यह भी है कि जहाँ इन औषधियों के द्वारा रोगों का उपशम होता है, वहीं एक रोग ऐसा भी है, जिसमें इस चिकित्सा से वृद्धि हो जाती है। कौन-सा रोग? वह है –

अहंकार अति दुखद डमरुआ । ७/१२१/३४

अहंकार ही वह रोग है। सत्कर्म के द्वारा जब हम किसी पाप पर विजय प्राप्त करते हैं, तब हमारे मन में धर्माभिमान की वृत्ति आ जाती है। यह एक बहुत बड़ी समस्या है। तो ऐसा कौन सा उपाय है कि रोग भी दूर हो जाय और अभिमान भी न हो? गोस्वामीजी जब मानसरोगों की चिकित्सा का प्रारम्भ ही यहीं से करते हैं –

रामकृपाँ नासहिं सब रोगा । ७/१२२/५

— भगवान की कृपा से ही रोग दूर होते हैं और कर्तृत्व का अभिमान भी दूर हो जाता है। सत्कर्म तो जीवन में करना ही चाहिए, किन्तु यह भी जान लेना हेगा कि भगवान की कृपा के विना रोग दूर नहीं होंगे।

शरीर के रोगों के सन्दर्भ में रोगी को जैसे वैद्य के द्वारा बताये गए औषधि और पथ्य को स्वीकार करना पड़ता है, इसी प्रकार साधक को भी सद्गुण और सत्कर्म का औषधि-पथ्य स्वीकार करना पड़ता है। परन्तु मन के रोगों के सन्दर्भ में गोस्वामीजी इतना और जोड़ देते हैं कि साधक के जीवन में साधना की स्वीकृति तो अवश्य है, किन्तु ये रोग साधना अथवा प्रयत्न से दूर नहीं हो सकते। कहीं वह यह समझने की भूल न कर बैठे कि मैं अपने प्रयत्न से इन रोगों को दूर कर लूँगा — वे साधक को सावधान कर देते हैं। 'ज्ञानदीप' के प्रसंग में ज्ञान का दीपक जलाना मुख्य रूप से पुरुषार्थ का कार्य है। व्यक्ति को ज्ञान पुरुषार्थ के द्वारा प्राप्त होता है। लेकिन गोस्वामीजी ने ज्ञानदीप-प्रसंग का प्रारम्भ भी कृपा से ही किया। ज्ञान की प्राप्ति कैसे होगी? इसके उत्तर में कहते हैं, जब हृदय में सात्विक श्रद्धा आ जाय। यह सात्विक श्रद्धा कैसे आयेगी? गोस्वामी जी एक सूत्र देते हैं –

सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई ।
जौ हरि कृपा हृदय बस लाई ।। ७/११७/९

अतः व्यक्ति चाहे जितना भी सत्कर्म क्यों न करें, चाहे जितना विचार भी क्यों न करें, उसके मूल में भगवान की कृपा ही विद्यमान है। मन के रोगों के सन्दर्भ में

भी वे यही कहते हैं कि भगवान की कृपा से ही मन के रोग दूर होते हैं। लेकिन साथ-ही-साथ यह भी कह देते हैं कि "जौ एहि भाँति बनै संयोगा।" और फिर वे क्रम बताते हैं —

सद्गुर बैद बचन बिस्वासा ।
संजम यह न बिषय कै आसा ।।
रघुपति भगति सजीवन मूरी ।
अनूपान श्रद्धामति पूरी ।।
एहि बिधि भलेहिं सो रोग नसाहीं ।
नाहि त जतन कोटि नहिं जाहीं ।। ७/१२२/६-८

रामचरितमानस में ज्ञान तथा भक्ति — दोनों के ही सूत्र हैं। पुष्पवाटिका में सीताजी को श्रीराम की प्राप्ति होती है और रामचन्द्रजी को श्रीसीता की। आध्यात्मिक दृष्टि से इसका क्या तात्पर्य है? भगवान राम साक्षात प्रखण्ड ज्ञानधन हैं और श्रीसीताजी हैं मूर्तिमती भक्ति —

ग्यान अखंड एक सीताबर । ७/७८/४
सानुज सीय समेत प्रभु राजत परन कुटीर ।
भगति ग्यानु बैराग्य जनु सोहत धरें सरीर ।। २/३२१

श्रीसीताजी ने भगवान राम को पाया, मानो श्रीसीताजी ने अपने चरित्र के माध्यम से ज्ञान को प्राप्त करने की पद्धति बताई और भगवान राम ने श्रीसीताजी को पाया, मानो उन्होंने हम संसार के जीवों के सामने वह उपाय या साधना-पद्धति प्रस्तुत की, जिससे भक्ति प्राप्त होती है। अब इस क्रम के तारतम्य को दृष्टि में रखकर यदि हम इस पूरे प्रसंग की व्याख्या करें तो हमें दो सूत्र मिलेंगे।

भगवान राम को श्रीसीताजी कैसे मिलीं? नवधा भक्ति में पहला सूत्र है —

प्रथम भगति संतन्ह कर संगा । ३/३४/८

और जब लक्ष्मण जी ने अरण्य काण्ड में भगवान राम से यह पूछा — महाराज, आपकी भक्ति कैसे मिलती है, तो भगवान राम ने भक्ति का सूत्र देते हुए कहा —

भगति तात अनुपम सुखमूला ।
मिलै जो संत होईं अनुकूला ।। ३/१५/४

— भक्ति समस्त सुखों का केन्द्र है, किन्तु बिना सन्तकृपा के भक्ति प्राप्त नहीं होती। भगवान राम को श्रीसीताजी कहाँ मिली? पुष्पवाटिका में। यही सन्तकृपा का सूत्र

है। अगर महर्षि विश्वामित्र श्रीराम को फूल चुनने पुष्पवाटिका में न भेजते, तो उन्हें श्रीसीताजी का साक्षात्कार नहीं होता। इसीलिए सन्त ही भक्ति की प्राप्ति में मूल प्रेरक है। भगवान श्रीराम अपनी लीला के माध्यम से हमें यह बता देना चाहते हैं कि सन्त के बताए हुए मार्ग से चलकर ही भक्ति की प्राप्ति होती है। दूसरी ओर हैं श्रीसीताजी। उन्होंने क्या पाया? उन्होंने भगवान राम को पाया। उनका मार्ग कौन सा है? उनका मूल प्रेरक कौन है? श्रीसीताजी अपने चरित्र के माध्यम से दिखा देती है कि पार्वतीजी ही भगवान राम को पाने का माध्यम हैं। श्रीसीता पार्वतीजी का पूजन करने चलीं। वे वाटिका में आकर स्नान करती हैं और मन्दिर में जाकर पार्वतीजी का पूजन करतीं हैं। वहाँ उन्हें श्रीराम के आगमन की सूचना मिलती है और अन्त में श्रीराम का दर्शन होता है। दर्शन के बाद वे पुनः पार्वतीजी से प्रार्थना करती हैं। और पार्वतीजी उन्हें आशीर्वाद देती हैं कि तुम्हें राम मिलेंगे। यह क्रम का निर्वाह है — अगर भक्ति पाना हो तो सन्त की कृपा चाहिए और ज्ञान पाना हो तो? पार्वती कौन हैं? वे हैं मूर्तिमती श्रद्धा —

भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ । श्लोक १/२

और ज्ञान प्राप्त करने के लिए सूत्र दिया गया —

श्रद्धावाल्लभते ज्ञानम् । (गीता)

— ज्ञान उन्हें प्राप्त होता है। जिनके अन्तःकरण में श्रद्धा है।

ज्ञानदीप के प्रसंग में भी गोस्वामीजी श्रद्धा से ही आरम्भ करते हैं और यहाँ पुष्पवाटिका प्रसंग में भी श्रीसीताजी के द्वारा पार्वतीजी का जो पूजन है, वह श्रद्धा का ही पूजन है। इस प्रसंग में दोनों क्रम साथ साथ चल रहे हैं। अगर ज्ञान पाना हो तो पहले श्रद्धा का आश्रय लें और भक्ति पाना हो तो पहले सन्त का आश्रय लें। यहाँ संयोगवश इन दोनों क्रम का मिलन हो जाता है। यह प्रसंग दोनों का समुच्चय है। भगवान राम के जीवन में भक्ति की उपलब्धि और श्रीसीताजी के जीवन में ज्ञान की उपलब्धि के क्रम का यहाँ पर बड़ा सांकेतिक वर्णन है।

भक्ति को पाने के संदर्भ में भगवान राम की यात्रा कहाँ से शुरू होती है? —

समय जानि गुर आयसु पाई ।
लेन प्रसून चले दोउ भाई ।। १/२२६/२

— गुरु वशिष्ठ की आज्ञा से भगवान राघवेन्द्र लक्ष्मणजी को साथ लेकर पुष्प लेने पुष्पवाटिका की ओर चले। पुष्प माने क्या? पुष्प का एक नाम है सुमन। भगवान

सुमन चुनने जा रहे हैं। यह सुमन शब्द बड़ा प्रतीकात्मक है। सुमन का एक अर्थ है फूल और दूसरा अर्थ है सुन्दर मन। जैसे सुमन में सौरभ होता है, उसी तरह सुन्दर मन में भी भक्ति का सौरभ होता है। इसका अभिप्राय यह है कि जैसे सौरभ का प्रेमी सुमन का संग्रह करता है, उसी तरह भक्तिसौरभ के प्रेमी — भगवान राम सुन्दर मन का चयन करते हैं। भगवान राम सुमन चयन कर रहे थे, इसी बीच उनके कानों में सीताजी के आभूषणों की ध्वनि सुनाई पड़ी। उनके आभूषणों की ध्वनि क्या है? यह ध्वनि है श्रुति। अभिप्राय यह है कि श्रुति के माध्यम से भक्तिदेवी के आगमन की सूचना प्राप्त होती है। भक्ति की ओर प्रस्थान सन्त की कृपा से और भक्ति का आगमन श्रुति के माध्यम से। नवधाभक्ति के प्रसंग में कहा गया है —

प्रथम भगति संतन्ह कर संगा ।
दूसरि रति मम कथा प्रसंगा ।। ३/३४/८

पहले सत्संग और दूसरे क्रम में श्रवण — 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः'। वैसे तो गोस्वामीजी लिख सकते थे कि भगवान राम फूल चुनने गये और अचानक श्रीसीताजी वहाँ आ गईं। उन्होंने सीताजी को देखा और उनके सौन्दर्य पर मुग्ध हो गये। किन्तु गोस्वामीजी कहते हैं कि नहीं! भगवान ने अभी सीताजी को नहीं देखा है, केवल उनके आभूषणों की ध्वनि उनके कानों में पड़ी है। इसका अभिप्राय यह है कि भक्ति की प्राप्ति के क्रम में श्रवण अनिवार्य है। भक्ति के प्रति जो अनुराग उत्पन्न होगा, उसके मूल में श्रवण ही होगा। श्री सीताजी को पाने के सन्दर्भ में भगवान राम ने इसी क्रम का निर्वाह करके श्रवण के महत्व को प्रगट किया।

यही क्रम ज्ञान के सन्दर्भ में भी है। सीताजी भगवान राम को किस क्रम से पाती है? यहाँ भी वही क्रम है। ऐसा नहीं कि श्री सीताजी पुष्पवाटिका में गयीं और वहाँ उन्होंने श्रीराम को देख लिया। उन्होंने देखा नहीं, बल्कि पहले सुना। उनकी एक सखी बाग में फूल चुनने गयी थी और वहाँ उसने अचानक श्रीराम को देख लिया। लौटकर उसने श्रीसीताजी के समक्ष श्रीराम के सौन्दर्य का वर्णन किया। यहाँ पर भी वही सूत्र है। ज्ञान के सन्दर्भ में भी श्रुति की प्रधानता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान के भी दो रूप हैं — एक है परोक्ष ज्ञान और दूसरा अपरोक्ष ज्ञान। पहले सुनकर परोक्ष ज्ञान होता है और उसके बाद अनुभव के द्वारा अपरोक्ष ज्ञान होता है। भक्ति और ज्ञान, दोनों के संदर्भ में श्रवण का यह महत्व तथा क्रम समान है। सीताजी को पाने की दिशा में भी भगवान राम पहले देखते नहीं, सुनते हैं और भगवान राम को पाने की दिशा में भी सीताजी भगवान राम को पहले देखती नहीं,

अपितु उनके बारे में सुनती हैं। और सुना भी तो किस पद्धति से? ज्ञान की जो अनिर्वचनीयता है, उसी क्रम से —

देखन बागु कुअँर दुइ आए ।
बय किसोर सब भाँति सुहाए ।। १/२२९/१

तब आगे वर्णन कैसे करती है ? कहती है —

स्याम गौर किमि कहौं बखानी ।
गिरा अनयन नयन बिनु बानी ।। १/२२९/२

— जो देख रहा है, वह बोल नहीं पाता और जो बोल रहा है वह देख नहीं पाता। यह ब्रह्म की, ज्ञान की अनिर्वचनीयता है। तात्पर्य यह है कि वह वाणी का नहीं, बल्कि अनुभूति का विषय है। सखी ही वह आचार्य है, जिसने परोक्ष ज्ञान के रूप में सीताजी के समक्ष ज्ञान की अनिर्वचनीयता का प्रतिपादन किया। उसके बाद बोध की परम्परा का क्रमशः विस्तार होता है। उस विस्तार में जनकनन्दिनी सीता पुनः उसी सखी को आगे करके अन्वेषण करती हैं।

चली अग्र करि प्रिय सखि सोई । १/२२९/८

वही सखी श्रीसीताजी को लेकर वहाँ गयी, जहाँ पर उसने श्रीराम को देखा था, किन्तु उन्हें श्रीराम वहाँ मिले नहीं। यह साधना पद्धति का संकेत है। मान लीजिए कि वह सखी श्री सीताजी को लेकर आती और दिखा देती कि ये रहे राम, तो क्या हर्ज था? परन्तु श्रीराम वहाँ नहीं मिले और इसका सांकेतिक अभिप्राय यह है कि श्रीराम यदि वहीं मिल जाते हैं, जहाँ उस सखी को मिले थे, तो श्रीराम की व्यापकता सीमित हो जाती। अगर यह निश्चित हो जाय कि ईश्वर किसी एक स्थानविशेष में ही मिलेंगे, तो यह एक साधक का आग्रह तो हो सकता है, पर सर्वव्यापी ईश्वर के लिए यह बिलकुल भी आवश्यक नहीं है कि वह स्वयं को किसी एक ही स्थान पर व्यक्त करे। वह तो कभी भी, कहीं भी प्रगट हो सकते हैं, इसलिए अपनी सर्वव्यापकता का ज्ञान कराने के लिए ही भगवान राम उसी स्थान पर श्रीसीताजी को नहीं दिखे, जहाँ पर सखी को दिखे थे। तब श्री सीताजी के मन में उत्कण्ठा तथा व्याकुलता का उदय होता है।

चितवति चकित चहूँ दिसि सीता ।
कहँ गए नृपकिसोर मनु चिंता ।। १/२३२/१

यह ईश्वर का, ज्ञान का अन्वेषण है। सीताजी व्याकुल होकर खोज रही हैं और तब ब्रह्म साक्षात्कार हुआ, ज्ञान का साक्षात्कार हुआ। किस रूप में हुआ? —

लता ओट तब सखिन्ह लखाए ।

स्यामल गौर किसोर सुहाए ।। २/२३२/३

श्रीराम दिखाई तो दे रहे हैं, परन्तु लता की ओट से। यह सांकेतिक भाषा है। लता माया की प्रतीक है। माया के सन्दर्भ में वेदान्त ब्रह्म के दो भेद करता है — सविशेष और निर्विशेष। जो लता से आवृत्त है, वह मानो सविशेष ब्रह्म है और जो लता से अनावृत होकर प्रगट हो जाता है, वह निर्विशेष है। इसी क्रम से सीताजी भगवान राम का साक्षात्कार करती हैं और उन्हें अपने हृदय में धारण कर लेती हैं। यही ज्ञानप्राप्ति का क्रम है। ज्ञानप्राप्ति के जितने क्रम हो सकते हैं, वे सभी सीताजी के चरित्र से सीखे जा सकते हैं। भक्ति पाने का भी यही क्रम है, पर एक अन्तर है। सीताजी ने भगवान राम को पाया, पर उनका मार्ग कुछ लम्बा निकला। पहले उन्होंने सुना, फिर खोजने निकलीं, व्याकुलता हुई, दिखाई पड़े तो पहले आड़ से दिखाई पड़े, फिर प्रत्यक्ष दिखाई पड़े। उसके बाद श्रीराम को छोड़कर जाना पड़ा, तो वे पार्वतीजी के मन्दिर में गयीं। मन्दिर में पार्वतीजी का वरदान मिला और तब उन्हें भगवान की प्राप्ति हुई। किन्तु भगवान राम ने भी श्रीसीताजी को पाया, तो क्रम तो प्रारम्भ में वही है, पर रास्ता छोटा और सुगम है।

कहहु भगति पथ कवन प्रयासा ।

जोग न मख जप तप उपवासा ।। ७/४६/१

भगवान श्रीराम महर्षि विश्वामित्र की आज्ञा से पुष्प लेने पुष्पवाटिका गये, वहाँ उन्होंने श्रीसीताजी के आभूषणों की ध्वनि सुनी, सुनकर उनके मन में अनुराग का उदय हुआ। वे अपने अन्तर्गत की भावना को लक्ष्मणजी को सुनाते हुए गुरु के पास चले।

हृदयँ सराहत सीय लोनाई ।

गुर समीप गवने दोउ भाई ।। १/२३७/१

इस क्रम का समापन कहाँ हुआ? दोनों भाई गुरु के पास पहुँचे और भक्ति को पाने का क्रम यहीं पूरा हो जाता है। भगवान राम ने महर्षि विश्वामित्र के चरणों में प्रणाम करने के बाद, पुष्पवाटिका में उन्हें जैसा अनुभव हुआ, वे सारी बातें बड़ी सरलतापूर्वक कह दीं। गुरु नहीं पूछ रहे हैं कि इतनी देर कैसे हुई। विना पूछे ही, भगवान राम स्वयं सारी बातें गुरु को वता देते हैं।

पार्वतीजी कथा सुन रही थीं। भगवान शंकर से पूछ बैठीं — महाराज, श्रृंगार की चर्चा भी क्या कभी गुरु को सुनाई जाती है? आपके श्रीराम तो बड़े विलक्षण हैं। श्रीसीताजी के सौन्दर्य को देखकर मुग्ध हुए, तो पहले तो छोटे भाई को सुना

दिया और अब गुरुजी को सुना रहे हैं। श्रृंगार की बात न तो छोटे से कही जाती और न बड़े से ही। इन्होंने तो छोटे से भी कह दिया और बड़े से भी। शंकरजी ने एक ही बात में समाधान कर दिया। बोले — इसके बिना तो सीताजी मिलेंगी नहीं। भक्ति की पराकाष्ठा है सरलता। सरलता के बिना भक्ति नहीं मिल सकती। भक्ति को पाने का यही क्रम है। गोस्वामी जी कहते हैं —

राम कहा सबु कौसिक पाहीं ।
सरल सुभाउ छुअत छल नाहीं ।। १/२३७/२

भगवान राम की सरलता देखकर गुरु प्रसन्न हो गए और बोले — राम, तुम क्या लेकर आए हो? बोले — महाराज, फूल लेकर आए हैं। उन्होंने कहा — संसार में फल के प्रेमी तो बहुत हैं, पर फूल के प्रेमी कम हैं। कर्मफल के प्रेमी बहुत हैं, परन्तु कर्म से प्रेमी बहुत कम हैं। यह जो तुम पुष्प लेकर आए हो, मेरी आज्ञा का जो पालन किया, यह तुम्हारी साधन-प्रीति का परिचायक है। किन्तु साधना कभी निष्फल नहीं होती। मेरी आज्ञा से तुम पुष्प लेकर आए हो, तो लो, तुम्हारे लिए यह फल लिये मैं बैठा हूँ। महर्षि विश्वामित्र ने श्री राम को आशीर्वाद दिया —

सुफल मनोरथ होहुँ तुम्हारे ।
रामु लखनु सुनि भए सुखारे ।। १/२३७/४

भक्ति को पाने के लिए सरलता ही सबसे महत्वपूर्ण गुण है। इसीलिए भगवान राम ने अपने चरित्र के माध्यम से इस सत्य को प्रगट किया। वे स्वयं अत्यन्त सरल हैं। इसी सरलता के मार्ग से उन्होंने भक्तिदेवी को पाया और अपने भक्तों से भी वे इसी सरलता की अपेक्षा रखते हैं। सरलता ही उन्हें सर्वाधिक प्रिय है और यही सरलता सुग्रीव के चरित्र में तथा उनके प्रिय होनेवाले असंख्य भक्तों में विद्यमान है। विभिन्न भक्तों के जीवन में अन्य लक्षणों की भिन्नता हो सकती है, परन्तु जहाँ तक सरलता का प्रश्न है, यह उन प्रभु के प्रिय समस्त भक्तों में विद्यमान है।

विभीषण जब भगवान राम की शरण में आए, तो सुग्रीव ने कहा — महाराज, यह रावण का भाई है। रावण मूर्तिमान मोह है, इस कारण विभीषण को मोहग्रस्त जीव कहा जा सकता है और सुग्रीव मानो यही कहना चाहते हैं कि मोहग्रस्त जीव क्या ईश्वर को पाने का अधिकारी है? उसे तो बन्दी बनाकर रख लेना चाहिए। भगवान राम ने हँसते हुए हनुमानजी की ओर देखा और कहा मुझे तो लगता है कि विभीषण बड़े सज्जन हैं और सुग्रीव कह रहे हैं कि वह रावण का भाई है, इसलिए दुर्जन है। ये दो आँखें मानो दो अलग-अलग दृष्टियाँ हैं — एक दृष्टि से देखें तो रावण के भाई होने के नाते निन्दनीय है और दूसरी दृष्टि से देखें तो जब

मोह को छोड़कर भगवान के शरण में आए हुए हैं, तो इन्हें सज्जन तथा शुद्धात्मा मानना चाहिए। भगवान राम ने हँसते हुए जो हनुमानजी की ओर देखा, इसके पीछे मानो व्यंग्य यह था — भाई, यदि हम किसी को भोजन के लिए निमंत्रण देकर घर में किसी को न बतायें और वह आमंत्रित व्यक्ति आ पहुँचे, तब क्या होगा? घर के लोग यदि पूछने लगे कि ये कौन है, क्यों आए हैं, आदि आदि, तो यह तो बेचारे आमंत्रित व्यक्ति की बड़ी दुर्दशा है। चलो, यहाँ तक भी ठीक है। परन्तु अब तो बता देना चाहिए कि इनको मैंने ही बुलाया है, लेकिन आप तो अब भी चुप बैठे हैं। प्रभु का व्यंग्य मानो यही था कि — हनुमान, तुम्हीं ने तो विभीषण को निमंत्रण देकर बुलाया है, तुम्हें कहना चाहिए कि मैंने बुलाया है। अब हनुमानजी की स्थिति बड़ी अनोखी है। क्या? हनुमानजी पर सुग्रीव भी अपना अधिकार मानते हैं और भगवान राम भी। दोनों का विश्वास उन पर है। किन्तु दोनों का विश्वास, दोनों की वृत्ति, दोनों का निदान अलग-अलग प्रकार का है। एक कहते हैं, विभीषण दशानन का भाई है, राक्षस है, शत्रु है और भगवान श्रीराम कहते हैं —

हिय बिहसि कहत हनुमान सों ।
सुमति साधु सिचि सुहृद बिभीषन,
बूझि परत अनुमान सों ।। गीतावली ५/३३

इधर सुग्रीव हनुमानजी की ओर देख रहे हैं। उनका संकेत है कि आप मेरा समर्थन कीजिए और प्रभु ने मानो कह दिया — विभीषण तुम्हारे बुलाने से आये हैं, अव निर्णय तुम्हारे हाथ में है। हनुमान तो सन्त हैं, वड़े चतुर निकले। वे एक ऐसी बात कह गये कि सुग्रीव तो प्रसन्न हुए ही कि इन्होंने मेरा समर्थन किया और प्रभु भी गदगद हो गये। हनुमानजी ने कहा — प्रभु, आप मुझसे जो यह पूछ रहे हैं कि विभीषण कैसा है, तो मुझे तो यह प्रश्न ही अटपटा लग रहा है। प्रभु बोले — अटपटा क्यों है? तो उन्होंने उलटकर प्रभु से ही पूछा — पहले आप यह बताइए कि शरणागति न्यायालय है या चिकित्सालय? अगर न्यायालय है, तो आप निर्णय कीजिए कि विभीषण अच्छे हैं या बुरे और अगर चिकित्सालय है, तो चिकित्सालय में तो रोगी आते ही है। अव अगर रोगी आया है तो यह तो वैद्य का कर्तव्य है कि वह रोगी के रोग को दूर करे। विभीषण अगर रोगी हैं, तो वे आपके पास आए ही इसीलिए हैं कि आप उनके रोग को दूर करें।

खोटो खरो सभीत पालिये सो सनेह सनमान सों । गीतावली ५/३३

भगवान श्रीराघवेन्द्र ने भी ठीक इसी प्रकार की वात कही —

जौं नर होइ चराचर द्रोही ।
आवै सभय सरन तकि मोही ।। ५/४८/२

परन्तु इतना अवश्य होना चाहिए कि —

तजि मद मोह कपट छल नाना । ५/४८/३

अभिप्राय यह है कि अगर मद होगा, तो रोगी वैद्य के पास आवेगा ही नहीं। मोह होगा, तो उसी भूल को बारम्बार दुहरायेगा, कुपथ्य करेगा और स्वस्थ नहीं हो सकेगा। कपट तथा छल की वृत्ति होगी, तो रोगी अपना रोग वैद्य से छिपायेगा।

विभीषणजी सचमुच ही इतने सरल-हृदय हैं कि अपना परिचय देते हुए वे भगवान से कहते हैं —

नाथ दसानन कर मैं भ्राता ।
निसिचर बंस जनम सुरत्राता ।।
सहज पापप्रिय तामस देहा ।
जथा उलूकहि तम पर नेहा ।। ५/४५/७-८

उन्होंने अपने सारे दोष भगवान को बता दिये। भगवान पूछ सकते थे कि इतने दोष हैं, तो यहाँ आने का साहस कैसे किया? क्या सोचकर चले आए? विभिषणजी ने तुरन्त हनुमानजी की ओर संकेत कर दिया। बोले —

श्रवन सुजसु सुनि आयउँ प्रभु भंजन भव भीर । ५/४५

— अब यह तो आप हनुमानजी से पूछिए कि मैं यहाँ क्यों आया हूँ। ये मुझे आपके विषय में क्या-क्या सुना आये हैं। सन्त ने ही मुझे यह बताया कि चाहे कैसा भी व्यक्ति क्यों न हो, शरण आने पर प्रभु उसके सारे दोषों को दूर कर देते हैं। बस, प्रभु विभीषण को हृदय से लगा लेते हैं, अपने शरण में स्वीकार कर लेते हैं। प्रभु की कृपा से विभीषण के जीवन के सारे दोष दूर हो जाते हैं।

इसका मूल आशय यह है कि शरीर के सन्दर्भ में भी कुटिलता तथा छल-कपट की वृत्ति बड़ी घातक है, क्योंकि इससे रोग भीतर ही भीतर पनपता तथा फैलता रहता है; और इसी प्रकार मन के रोगों के सन्दर्भ में भी, जिनके हृदय में अपने दोषों को छिपाने की वृत्ति है, वह स्वयं तो कष्ट भोगता ही है, साथ-साथ दूसरों में भी उस रोग को फैलाता है। किन्तु जो व्यक्ति भगवान के सामने अपने दोषों को बड़ी सरलता से निवेदन करते हुए प्रार्थना करता है, तो उसके जीवन में भगवान की कृपा से भक्ति की सरलता आती है और उसके मन का यह कुष्ट रोग — दुष्टता और कुटिलता की वृत्ति दूर हो जाती है। (क्रमशः)

□